आधुनिक भारत के निर्माता

ऐनी बेसेन्ट

लेखक : सी० पी० रामास्वामी अय्यर

अनुवादक : सूर्यनारायण मुंशी

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

प्रस्तुत पुस्तकमाला

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य भारत के उन पुत्रों और पुत्रियों की जीवनियां प्रकाशित करना है, जिनका हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान एवं स्वाधीनता संग्राम में प्रधान योगदान रहा है।

यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारी वर्तमान तथा आने वाली पीढ़ियों के लिए इन महान स्त्री-पुरुषों की जानकारी सहज सुलभ हो। खेद का विषय है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर, ऐसे महापुरुषों की प्रामाणिक जीवनियां उपलब्ध नहीं हैं। प्रस्तुत पुस्तकमाला इसी अभाव की पूर्ति की दिशा में एक प्रयास है। हमारा विचार है कि अपने इन विख्यात नेताओं के सरल-संक्षिप्त जीवन-चरित अधिकारी विद्वानों से लिखवा कर प्रकाशित करें। इस माला की पुस्तकों में से प्रत्येक दो-तीन सौ पृष्ठों की होंगी।

व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण यह सम्भव है कि हम ऐतिहासिक कालक्रम का पालन न कर सकें। तथापि, हमें पूर्ण विश्वास है कि शीघ्र ही इस पुस्तकमाला में राष्ट्रीय महत्व के सभी यशस्वी व्यक्तियों के जीवन-चरित सुलभ हो जाएंगे। श्री आर० आर० दिवाकर इस पुस्तकमाला के प्रधान सम्पादक हैं।

प्राक्कथन

डॉ० ऐनी बेसेन्ट ने अपनी 'जीवनी' 1893 में पूरी की थी। उसके प्राक्कथन में उन्होंने कहा था :

"कोई भी व्यक्ति आत्मकथा इस विचार से लिखता है कि स्वयं उसके लिए कुछ अप्रिय होने पर भी, वह कुछ ऐसी समस्याओं पर प्रकाश डाल सकता है, जो उसके समकालीन लोगों को परेशान किए हुए हैं···वर्तमान अशांत और उत्सुक पीढ़ी के लोग, क्या स्त्री क्या पुरुष, सभी ऐसी शक्तियों से घिरे हुए हैं, जो कुछ दिखाई तो देती हैं लेकिन समझ में नहीं आती हैं। हम पुराने विचारों से असंतुष्ट और नए से कुछ-कुछ भयभीत हैं। हम विज्ञान के ठोस एवं स्पष्ट लाभों के लिए लालायित भी हैं लेकिन, अध्यात्म के विषय में उसकी नास्तिकता से शंकित हैं। हम अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध हैं, लेकिन नास्तिकता से भी भयभीत हैं, हमने खोखली धार्मिक रूढ़ियों और निरर्थक क्रियाओं से मुंह मोड़ लिया है, लेकिन हम सच्ची आध्यात्मिकता के भूखे हैं। हमारी चिंताएं, दुख, आशाएं और ज्ञान की पिपासा एक सी है, इसलिए, हो सकता है कि किसी एक की कहानी सभी की सहायता कर सके।"

इसके 15 वर्ष बाद और थियोसाफ़िकल सोसायटी में शामिल होने के करीब 20 वर्ष बाद अपनी 'आत्म कथा' के तीसरे संस्करण के प्राक्कथन में दुनिया भर में और विशेषतः भारत में अपनी यात्राओं का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा कि थियोसाफ़िकल सोसायटी के जरिए मेरे लिए यह सम्भव हो सका कि मैं हिंदू, पारसी, और श्रीलंका तथा बर्मा में बौद्ध धर्म को पुनः जीवित करने तथा ऊपर उठाने में सफल हो सकी। उन्होंने यह भी कहा कि मेरा काम केवल भारतीयों में आत्म-सम्मान और बर्ताव के प्रति गर्व और भविष्य में विश्वास पैदा करना ही नहीं था बल्कि पश्चिमी शिक्षा के साथ पूर्व की नैतिकता और धर्म का मेल करना था। उन्होंने कहा कि अब मुझे जीवन का अर्थ अधिकाधिक समझ में आने लगा और मृत्यु इस चिर-विकासशील जीवन में एक उपेक्षणीय घटना लगने लगी है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में

कहा है कि मैडम ब्लैवट्स्की के प्रति मेरी अब पहले की तरह अन्ध-भक्ति नहीं रही। पर मैं उनकी कृतज्ञ हूं कि उन्होंने मुझे ऐसा ज्ञान दिया, जिसे अनुभव ने पुष्ट एवं प्रमाणित कर दिया है।

ऐसी आत्मकथा कम होती है, जिसमें बाहरी घटनाओं के साथ-साथ आन्तरिक संघर्ष का भी चित्रण हो। डॉ० एनी बेसेन्ट की आत्मकथा ऐसी ही है। 'द हैपी वारियर' (आदर्श योद्धा) नामक अपनी कविता में अंग्रेजी कवि विलियम वर्ड्सवर्थ ने कहा है—

वह आदर्श योद्धा उदारमना जो जीवन की कंटीली राहों को अपनी आत्मा की ज्योति से उजागर करता चलता है।

ऐनी बेसेन्ट पर यह उक्ति पूरी तरह लागू होती है।

विषय सूची

अध्याय 1

आरम्भिक जीवन और आध्यात्मिक संघर्ष

विवाह के पूर्व ऐनी वेसेन्ट का नाम था, ऐनी वुड। उनका जन्म लन्दन में 1847 की पहली अक्तूबर को हुआ था। उनकी माता शुद्ध आयरिश वंश की थीं और पिता अपनी माता की ओर से तो आयरिश थे, लेकिन पिता की ओर से इंगलैंडवासी थे। उनके एक पूर्वज लन्दन के मेयर और उनके परिवार के एक व्यक्ति जिनका नाम लार्ड हेदर्ले था, इंगलैंड के लार्ड चांसलर रह चुके थे। वास्तव में ऐनी वेसेन्ट को आयरिश भाषा और आयरिश रहन-सहन प्रिय था। उन्होंने स्वयं कहा है कि "मेरे कानों को आयरी बोली सुरीली लगती है और उनका स्वभाव मेरे दिल को भाता है।" उन्होंने एक और महत्त्व की बात कही है, "भगवान उनका भला करें, जिनकी जुबान तेज और दिल स्नेही होते हैं, जिनका नेतृत्व बड़ी आसानी से किया जा सकता है, लेकिन उन्हें हांकना बड़ा कठिन होता है।"

उन्होंने स्वयं बताया है कि उनकी एक चाची अपने वंशवृक्ष पर बड़ा गर्व करती थीं और कहती थीं कि फ्रांस के सात-सात राजाओं से उनकी वंश-परम्परा चली आई है। वंश-परम्परा के प्रभाव से उनके स्वभाव में दो विशेषताएं आ गई थीं—शांत चित्त और सम्मान तथा प्रतिष्ठा का गौरव जो उन्हीं के शब्दों में, एक ऐसे तूफानी सार्वजनिक जीवन की अजीब तैयारी थी जिसे बुरी तरह बदनाम और कलंकित किया गया, जिस पर तरह-तरह के आक्षेप व आक्रमण किए गए। उनके आत्म सम्मान तथा आत्म गौरव के इसी भाव ने आगे चलकर अपमान और आक्षेप के लिए ढाल का काम किया। बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में वह कहती हैं, "मेरी सार्वजनिक प्रसिद्धि कितनी ही गिर जाए, लेकिन मैं यह कभी नहीं सहन कर सकती कि मैं स्वयं अपनी ही नजर में गिर जाऊं।

ऐनी जब पांच वर्ष की थीं, तभी उनके पिता की क्षयरोग से मृत्यु हो गई थी। उनके बारे में वह कहती हैं कि वह बड़े प्रखर बुद्धिमान, विचारक और विद्वान थे। वह गणितज्ञ और प्राचीन शास्त्रीय साहित्य के विद्वान होने के साथ-साथ फ्रांसीसी,

इटालवी, जर्मन, स्पेनी और पुर्तगाली भाषाओं में निपुण थे और थोड़ा बहुत यहूदियों की हेब्रू तथा स्काटलेंड के प्राचीन केल्ट लोगों की भाषा भी जानते थे। ऐनी बेसेन्ट के भावी विकास को ध्यान में रखते हुए यहां पर यह उल्लेखनीय है कि उनके पिता दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी होने पर भी पक्के संशयवादी थे। वह अपने ज़माने की रूढ़िवादी और दक़ियानूसी विश्वासों से मुक्त हो चुके थे। लेकिन उनकी माता बड़ी धार्मिक महिला थीं यद्यपि, जैसा श्रीमती बेसेन्ट का स्वयं कहना है, बायबिल की अटलता अथवा अभ्रांति, किसी एक के बदले किसी दूसरे द्वारा प्रायश्चित किए जाने और नित्य दण्ड के सिद्धांतों को वह गलत समझती थीं।

यह बड़े महत्त्व की बात है कि अपने आरम्भिक जीवन में ऐनी बेसेन्ट को अपने (ईसाई) धर्म में बड़ी गहरी निष्ठा थी। बाल्यावस्था में ऐनी का स्वभाव अत्यंत कल्पनाशील था. अधिकतर वह स्वप्नलोक में ही रहती थीं। परियों और भूत-प्रेतों की कथाएं उनके लिए पूर्णत: वास्तविक थीं।

ऐनी बेसेन्ट के बाल्यकाल में उनकी माता को आर्थिक कठिनाइयों के कारण काफी संघर्ष करना पड़ा। श्रीमती वुड ने अपने पुत्र को हैरो के प्रसिद्ध पब्लिक स्कूल में पढ़ाने का निश्चय किया। कौड़ी-कौड़ी की मुहताज होने पर भी उन्होंने अपनी योजना पर अमल किया। उन्होंने एक होटल (बोर्डिंग हाउस) चला कर उसी की आमदनी से अपने पुत्र को हैरो में शिक्षा दिलाई। ऐनी की देखभाल का भार प्रसिद्ध उपन्यासकार कैप्टेन मैरियट की बहन कुमारी मैरियट ने अपने ऊपर ले लिया। कुमारी मैरियट (एक प्रकार से) पैदायशी शिक्षक थीं और बच्चों का मन लगा कर तथा कम-से-कम कष्ट देकर शिक्षा की प्रणाली की प्रवर्तकों में थीं। उनकी प्रणाली मैडेम मान्टेसरी की शिक्षा प्रणाली से मिलती है, जिन्होंने बाद में शिक्षा के क्षेत्र में ऐनी बेसेन्ट के साथ काम किया।

कुमारी मैरियट ने फर्नहिल नामक एक सुन्दर जगह ले रखी थी और वहीं एक रविवासरीय स्कूल तथा बायबिल की कक्षाएं चलाती थीं। इंगलैंड में उन दिनों भौतिकवादी विचारधारा काफी फैली हुई थी। यह कोई इने-गिने लोगों का दार्शनिक भौतिकवाद नहीं था बल्कि आम लोगों का धार्मिक भौतिकवाद था। फिर भी ऐनी की शिक्षा पर धार्मिक प्रभाव अधिक था। और 'द पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' और मिल्टन की 'पैराडाइज लास्ट' उनकी प्रिय पुस्तकें थीं। चूंकि वह जिज्ञासु भाव से संवेदनशील थी इसलिए वह कहती हैं कि उन्हें इस बात का दुख है कि जब वह पीछे पलट कर

देखती हैं तो उन्हें ऐसी घड़ियां याद नहीं हैं जबकि उनका 'मत-परिवर्तन' हुआ हो; उन्हें महसूस होता था कि उपदेशकों द्वारा बताई गई जबर्दस्त 'पाप भावना' की तुलना में उनकी स्वप्निल अथवा काल्पनिक इच्छाएं अत्यंत तुच्छ प्रतीत होती थीं।

जब ऐनी चौदह वर्ष की थीं तो कुछ महीने जर्मन भाषा की शिक्षा देकर कुमारी मैरियट उन्हें जर्मनी ले गई। वहां उन पर बड़ी कड़ी निगरानी रखी जाती थी और जैसा कि उनका कहना है, 'मेरी प्यारी चाची' सभी युवकों को भेड़िया समझती थीं, जिन्हें वह अपने बढ़ते हुए मेमनों से दूर ही रखती थीं। बाद में कुमारी मैरियट और वह कुछ महीने पैरिस में रहीं—और वे दिन थे फ्रांसीसी साम्राज्य के पूरे विकास एवं समृद्धि के दिन। ऐनी पर नोत्र देम, ला मेदलैन और सेन्ट राश की दिव्य सुन्दरता का बहुत प्रभाव पड़ा। प्रार्थना सभाओं में तरह-तरह की रंगबिरंगी आकृतियां, वेशभूषा, सुगन्ध और ठाट-बाट और सेन्टों (ईसाइयों के सिद्धों) तथा मैरी (ईसामसीह की माता) की मूर्तियों से भरी लूवैर की चित्र दीर्घाओं ने ऐनी की धार्मिक प्रवृत्ति को बहुत उत्तेजित कर दिया। जैसा कि वह कहती हैं, उन्हें प्रेम की कथाएं और कविताएं नहीं पढ़ने दी जाती थीं और उनका अधिकतर समय उन दिनों के ध्यान में लीन रहते बीतता था जब बलिका हुतात्माओं को 'हुतात्माओं के सम्राट' (ईसामसीह) के दर्शन का वरदान मिला था, जब सेन्ट ऐग्नीज ने अपने दिव्य (सुरलोकी) वर (पति) के दर्शन किए थे और देवदूतों ने रुक कर सेन्ट सेसिलिया के हर्षोन्मत्त कानों में सुरीले गीत गुनगुनाए थे।

इंगलैंड लौटने पर उन्होंने अपनी जर्मन और फ्रांसीसी भाषाओं के ज्ञान को बढ़ाया और अपनी मां के पास आकर संगीत की शिक्षा लेने लगीं। इसी बीच में उनकी माता कई मुसीबतों में फंसी रहीं; एक वकील ने, जिस पर उन्होंने बहुत विश्वास किया था, उन्हें बुरी तरह और बड़े कायदे से ठग लिया। लेकिन जिस स्नेह-मयी मां ने किसी की चिन्ता या क्लेश को ऐनी के बचपन या यौवन को छूने तक नहीं दिया, उसने अपने जीवन के तमाम कटु यथार्थों को उससे छिपाए रखा। विवाह से एकदम पहले के कई वर्षों में, वह ईसाई धर्म के आरम्भिक गुरुजनों की रचनाओं के अध्ययन में जुटी रहीं। बाद में इन पिछले वर्षों की याद करके वह अत्यंत प्रभावशाली ढंग से और बड़ा सही निरूपण करती हैं कि जिन्दगी-भर उन्होंने चाहे जो भी भूलें, गलतियां या भोंडी-से-भोंडी मूर्खता क्यों न की हो, उनकी इच्छा और आकांक्षा हमेशा

स्वार्थ के विरुद्ध त्याग के लिए रहा है। बाद में उन्होंने इसे अपने पूर्व जन्म से प्राप्त और इस जन्म की सबसे प्रधान प्रवृत्ति माना।

1866 में उनका कैम्ब्रिज के एक अध्यापक पादरी रेवेरेन्ड फ्रैंक बेसेन्ट से परिचय हुआ, जिनके साथ कुछ दिनों की कोर्टशिप के पश्चात उनका विवाह हो गया। लेकिन यहां पर यह उल्लेखनीय है कि जिन दिनो उनकी फ्रैंक बेसेन्ट से मुलाकात हुई उन्हीं दिनों उनके मन में ईसाई धर्म के उपदेशों (ईसामसीह के सन्देशों) के बारे में बहुत-सी शंकाएं उठने लगीं। इन उपदेशों को उन्होंने अपनी डायरियों में लिख रखा था। जहां तक उनके आन्तरिक (मानसिक) जीवन का सम्बन्ध था, उसमें अब भी अत्यंत तीव्र धार्मिक उत्साह और एक ऐसा दर्शन भरा था जो उनके मतानुसार एक उच्च आदर्श में परिवर्तित प्रेम की वास्तविक मानवीय भावना होती है। धर्म को इस रूप में मान कर उन्होंने उस पादरी महाशय को ईश्वर के एक सेवक और विशेष दूत के आदर्श रूप में स्वीकार किया। कुछ ही सप्ताहों के भीतर उनकी फ्रैंक बेसेन्ट से सगाई हो गई और जैसा वह स्वीकार करती हैं, उन्हें एक ऐसे व्यक्ति के साथ सगाई करनी पड़ी जिससे प्रेम का ढोंग वह नहीं कर सकीं। उन्होंने वह सगाई तोड़ने की कोशिश की, लेकिन चूंकि उनकी माता ने उन्हें रोका इसलिए बीस वर्ष की अवस्था में वह ब्याह दी गईं। उस समय उनके मन में दाम्पत्य-जीवन के लिए बिलकुल वही धारणा थी जो किसी चार वर्षीय बच्ची में होती है।

1867 में, उनका परिचय एक श्री राबर्ट्स से हुआ जो उन दिनों की उग्र राजनीति में 'गरीबों के वकील' कहलाते थे। श्री राबर्ट्स महान वक्ता और राजनीतिज्ञ जान ब्राइट के प्रशंसक थे जिन्होंने अपने को आयरलैण्ड की स्वतन्त्रता के गुप्त क्रान्तिकारी फीनियन आन्दोलन में झोंक दिया था। श्री राबर्ट्स ने फीनियनों को बचाने की पैरवी तो की लेकिन 'जल्लादी जज' कहलाने वाले न्यायमूर्ति ब्लैकबर्न का मुकदमे में अत्यधिक प्रभाव था। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने लिखा है कि किसी क्रोधी भीड़ को देखने का सर्वप्रथम अनुभव उन्हें उस दिन हुआ जिस दिन वह और राबर्ट्स कचहरी गए थे, रास्ते में सड़कों पर आयरिश लोग लड़कों की हत्या होते देखने के लिए जा रहे नीच अंग्रेजों को बुदबुदा कर कोस रहे थे। मुकदमे की सुनवाई करने वाले जूरियों में से एक ने तो यहां तक कहा कि सफाई-सबूत की उसे कोई परवाह नहीं, वह तो उनमें से हर 'नीच' आयरिश को लटका देगा। दोषी होने का फैसला सुना दिया गया और अभियुक्त मार्किन और ओ' ब्राइन को फांसी दी गई।

इसी साल ऐनी बेसेन्ट का चार्ल्स ब्रैडला के कार्यों से सर्वप्रथम परिचय हुआ और जैसा उन्होंने बताया है, उनके (ब्रैडला के) द्वारा सम्पादित 'नेशनल रिफार्मर' (राष्ट्रीय सुधारक) के 24 नवम्बर के अंक में उन्होंने अति भावुक भाव से उसका मुख्य लेख लिखा था। उसका शीर्षक था 'व्हेयर इज आवर बोस्टेड इंगलिश फ्रीडम ?' (हमारी वह अंग्रेजी स्वतन्त्रता कहां है जिसकी हम डींग मारते हैं ?) 1867 के दिसम्बर मास में ऐनी बेसेन्ट के दुखी विवाहित जीवन में संकट का आरम्भ हो गया। वह कहती हैं : "मैं और मेरे पति, हम दोनों शुरू से ही बहुत गलत तरीके से जोड़ दिए गए थे; उनके तो पति की सत्ता और पत्नी की आज्ञाकारिता के बारे में बड़े ऊंचे-ऊंचे विचार थे, वह अत्यन्त दृढ़ थे, उनका हर काम बड़े विधिपूर्वक होता था, वह बहुत जल्दी, जरा सी बात पर गुस्सा हो जाते थे और फिर बड़ी मुश्किल से मानते थे, और मैं, स्वतन्त्रता की अभ्यस्त, घरबार के रोजमर्रा के मामलों के प्रति उदासीन थी, स्वभाव तेज और भावुक तथा अत्यधिक गर्वीला थी।" जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है अगर उनके साथ कुछ भिन्न व्यवहार किया गया होता तो शायद वह एक उचित परम्परानुकूल पत्नी की अच्छी-खासी नकल बन गई होतीं। इस सबका परिणाम यह हुआ कि वह एक ऐसी चहारदीवारी से घिरी रहने लगीं जिसके भीतर ही भीतर रह कर उन्हें घोर मानसिक संघर्ष करना पड़ता था जिससे उनकी लगभग हत्या ही हो गई। अपने इस एकाकीपन को कुछ राहत देने के लिए उन्होंने लघु कथाएं और धार्मिक सिद्धों (सेन्टों) की जीवनियां लिखना शुरू कर दिया। उनकी कहानियां प्रकाशित हुई और उन्हें रुपये भी मिले जिससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई क्योंकि यह उनकी पहली आमदनी थी और उपार्जन करने के अभिमान के साथ-साथ उन्होंने लेखिका बन जाने का भी गर्व अनुभव किया।

1869 में उनके एक पुत्र हुआ और फिर 1870 में एक कन्या। इन बच्चों ने उनमें एक नई रुचि, एक नए आनन्द को जन्म दिया और उनका पालन-पोषण वह स्वयं ही करती थीं। 1871 में इन दोनों बच्चों को कुकरखांसी हो गई और उन्होंने उनकी बड़ी सेवा की जैसे मौत से लड़ी हों। ज्योंही बच्चों की दशा खतरे से दूर हुई त्योंही स्वयं ऐनी बेसेन्ट का स्वास्थ्य बुरी तरह से गिर गया और फिर, उन्हीं के शब्दों में, जब वह सुधरीं तो उन्हें एक जबर्दस्त संघर्ष का सामना करना पड़ा जो तीन वर्ष दो मास तक चला—यह वह संघर्ष था जिसने उन्हें ईसाई से नास्तिक बना दिया। जिसने स्वयं अनुभव नहीं किया है वह नहीं समझ सकता कि एक सच्चे ईमानदार

धर्मनिष्ठ व्यक्ति के मन में जब शंका की दरार पड़ जाती है तो उसे कितने और कैसे गहरे संताप की पीड़ा होती है। उनकी 'आत्मजीवनी' का यह अंश अत्यन्त मर्मस्पर्शी और महत्त्व का है।

"पीड़ा और कष्ट में बीतने वाले इन्हीं महीनों में जबकि मेरे निर्दोष छोटे से बच्चे को निरर्थक घोर यातना सहनी पड़ी, दुनिया भर के दयालु पिता माने जाने वाले ईश्वर के प्रति मेरे मन में जो विश्वास था उसे सबसे पहली और गहरी ठेस लगी। मैं गरीब दरिद्र लोगों के पास इधर अक्सर जाती रहती थी और उन्हें मैंने अपने जीवन की यातनाओं को बड़े संयम से सहते देखा था; मेरी देवीतुल्य मां को एक ऐसे वकील ने ठगा जिस पर वह विश्वास करती थीं और स्वयं कर्जों के बोझ से दब गईं। क्योंकि जो रुपया उस वकील के जरिए दूसरों तक पहुंचना था, वह रुपये उन्हें दिए ही नहीं गए थे, वह रकम वकील खुद ही हजम कर गया। स्वयं मेरी अच्छी-खासी जिन्दगी मुसीबतों से लाद दी गई और परवशता की असह्य भावना द्वारा मुझे अपमानित किया गया, और अब दैविक यातना के कारण मेरा निस्सहाय और निष्पाप बच्चा हफ्तों बीमार रह कर दुर्बल और पीड़ित हो गया था। इससे मेरा विश्वास हिल गया। इस मानसिक संघर्ष की तीव्रता को मेरे पूर्व जीवन की शान्ति और सुख ने और बढ़ा दिया और जो मैं एकदम नई और प्रतिकूल परिस्थितियों में झोंक दी गई उसने तो मुझे और घबरा दिया, स्तब्ध कर दिया। मेरा धार्मिक अतीत ही मेरे दुखी और वेदनापूर्ण वर्तमान का सबसे कड़ा शत्रु हो गया। ईसा पर मेरे व्यक्तिगत विश्वास, विश्वभर की तमाम घटनाओं के पीछे निरन्तर ईश्वरीय निर्देशन संचालन पर मेरा अटूट विश्वास, हर समय और हर जगह ईश्वर की उपस्थिति अनुभव करने और बराबर उसकी प्रार्थना करते रहने की मेरी आदत—ये सभी अब मेरे विरुद्ध हो गए थे। और जब मेरे विश्वास ने ही मेरा साथ छोड़ दिया तो मुझे उतना ही गहरा धक्का लगा जितना गहरा मेरा विश्वास था।"

उस समय सान्त्वना और प्रार्थना की परम्परागत विधियों से मुझे अपनी मानसिक पीड़ा और बढ़ती हुई लगती थी। उन्होंने जो नया दृष्टिकोण अपनाया उससे पति-पत्नी में झगड़े होने लगे। पति की धार्मिक कट्टरता ने पारिवारिक जीवन को और दुखी कर दिया। लेकिन अपने तमाम प्रकट कष्टों के बावजूद उन्होंने ईसाई धर्म और उसके एक-एक करके तमाम सिद्धान्तों को जांचने का निश्चय कर लिया ताकि अब बाद में वह कभी प्रमाण के अभाव में भी यह न कह सकें कि "मैं विश्वास करती हूं।"

उनके सम्मुख चार समस्याएं थीं :

1. मृत्यु के पश्चात् ताकयामत दंड और पीड़ा ।
2. ईश्वर को 'मंगलमय' और 'प्रेम' स्वरूप कहते हैं, तो उसने तमाम पापों और कष्टों सहित यह दुनिया क्यों बनाई है ?
3. ईसा के बलिदान का स्वरूप । न्यायी ईश्वर ने ईसा को संसार के पाप के लिए पीड़ा क्यों सहने दी और पापियों को पाप से मुक्ति क्यों देता है ?
4. बायबिल के संदर्भ में 'प्रेरणा' का अर्थ । यदि बायबिल ईश्वर-रचित है तो इसमें असंगत और नैतिकता के विरुद्ध स्थल क्यों हैं ?

उन्होंने राबर्टसन स्टापफोर्ड, ब्रूक, स्टेनली, ग्रेग, मेथ्यू अर्नल्ड, लिडन, मेन्सेल और अन्य संशयवादियों की पुस्तकों का अध्ययन शुरू कर दिया। समाज-कल्याण के कार्य करने, रोगियों की सेवा-सुश्रूषा करने और दीन-दुखियों की सहायता करने से उनके मानसिक तनाव को शान्ति मिलने लगी। इसके बाद उन्होंने खेतिहर मजदूरों के बारे में बहुत-सी जानकारी प्राप्त की और खेतिहर मजदूर यूनियनों के कार्यों का अध्ययन किया जिनका उन दिनों किसान लोग विरोध कर रहे थे और यूनियन के सदस्यों को काम नहीं देते थे। इसके बाद वह एक आस्तिक उपदेशक रेवरेन्ड चार्ल्स पूसे के सम्पर्क में आईं। वह अब ईसा के दैवत्य को छोड़ कर उनकी मानवीयता पर जोर देने लगीं। इसके बाद उनके सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि अगर ईसा को ईश्वर के रूप में मानना छोड़ दिया जाए तो फिर ईसाइयत को भी एक धर्म के रूप में मानना छोड़ना पड़ेगा। कुछ समय तक उन्होंने डॉ० पूसे से पत्रव्यवहार किया लेकिन उनसे सन्तुष्ट नहीं हुईं। 1872 तक उनका श्री और श्रीमती स्काट से परिचय हो चुका था जिन्होंने अपने घर को विधर्मी विचारों का अड्डा बना रखा था और ऐनी बेसेन्ट का 'फ्री थॉट' (स्वतन्त्र विचार) निबन्ध थामस स्काट के लिए ही लिखा गया था। जैसा कि बड़े सुन्दर शब्दों में उन्होंने बताया है, वह (निबन्ध) नजरेथ के ईसा पर था। और उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि उसकी लेखिका एक पादरी की पत्नी है। इसके बाद से उन्होंने ईसामसीह के स्मरणार्थ पवित्र भोज में शामिल होने से इन्कार कर दिया और जब किसी ने पूछा कि क्यों, तो आपने साफ-साफ कह दिया कि भोज में भाग लेने वाले के लिए जिस मत-विश्वास की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है, वह प्रतिज्ञा वह ईमानदारी से नहीं कर सकतीं। 1872 में वह अपनी शंकाओं से परेशान और अप्रिय घरेलू जीवन से दुखी होने के बावजूद सिबसे नामक गांव में टाइफायड की

भयंकर महामारी फैलने पर रोगियों की सेवा-सुश्रूषा में बड़ी मेहनत से लग गईं। और इन्हीं दिनों वह सिब्से के गिरजाघर गईं। वहां पहुंचकर अचानक उनके मन में आया कि वह उपदेश दें और उन्होंने महसूस किया कि अगर उन्हें अवसर मिले तो वह बोल सकती हैं।

उन्हीं के शब्दों में, "तो जहां मैं आर्गन बाजे पर कुछ अभ्यास करने गई थी, उसी विशाल शांत गिरजे के भीतर अकेले बन्द, मैं उपदेशक के मंच पर चढ़ गई और 'बायबिल की प्रेरणा' पर अपना सबसे पहला भाषण दिया। ज्योंही मेरी पतली-पतली सुरीली झनकारती हुई आवाज़ दूर पार्श्वों तक पहुंची त्योंही मैंने जो सामर्थ्य और प्रसन्नता—विशेषकर सामर्थ्य—अनुभव किया, वह कभी नहीं भूलूंगी और मेरे भीतर का आवेग नपे-तुले वाक्यों के रूप में ऐसे प्रवाह से फूट निकला कि मैं एक क्षण के लिए, भी नहीं रुकी।" उस समय उन्होंने जान लिया कि बोलने का गुण उनके पास है—ऐसा गुण जो आगे चलकर जीवन भर उनके लिए सर्वाधिक लाभदायक सिद्ध हुआ।

1873 तक उनका वैवाहिक सम्बन्ध टूट गया। विकल्प उनके पति ने उपस्थित कर दिया था : अनुरूपता अर्थात् आज्ञा-पालन करें या घर छोड़कर चली जाएं अर्थात् स्वयं उनकी भाषा में, पाखंड-ढोंग का पालन या घर से निष्कासन। उनकी माता बहुत दुखी हुईं लेकिन अपनी पुत्री की समस्या की गम्भीरता भी वह समझती थीं। किन्तु, जैसा कि उन्होंने कहा है, उस समय तक वह नहीं जानती थीं कि लोग—स्त्री-पुरुष दोनों ही—कितने निर्दयी हो सकते हैं, उनकी ज़ुबानें कितनी विषैली हो सकती हैं। कुछ दिनों तो ऐनी बेसेन्ट ने कढ़ाई-बुनाई का काम सीखा और एक घर में अध्यापिका हो गईं। इसी बीच में उनके बच्चे बीमार पड़े और ऐनी ने अपनी माता के साथ मिलकर घर-गृहस्थी संभाल ली। इसके बाद ही उनकी माता भी बीमार पड़ीं और उनकी दशा अत्यन्त निराशाजनक हो गई। मरने से पहले उन्होंने होली कम्यूनियन (ईसामसीह को समर्पण) की इच्छा प्रकट की लेकिन उन्होंने यह शर्त रखी कि उनकी पुत्री भी उसमें भाग ले। बहुत से पादरी श्रीमती बेसेन्ट को इसकी अनुमति देने के लिए तैयार नहीं थे; लेकिन एक गिरजे के अध्यक्ष डीन स्टेनली ने, जिनसे वह स्वयं जाकर मिली थीं, इसकी अनुमति दे दी। उनके जीवन में यह अन्तिम अवसर था जब उन्होंने किसी ईसाई धर्म-विधि में भाग लिया। उस समय डीन स्टेनली और ऐनी बेसेन्ट के बीच जो विचार-विनिमय हुआ, उसमें डीन महोदय ने स्पष्ट कहा कि सिद्धांत

की अपेक्षा आचरण-व्यवहार कहीं अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और मैं उन सभी लोगों को ईसाई समझता हूं जो ईसामसीह के नैतिक नियमों को मानते और उन पर अमल करते हैं। माता का देहांत हो जाने पर ऐनी बेसेन्ट को काफी परेशानियों का सामना करना पड़ा और वे श्री स्काट के लिए छोटी-छोटी पुस्तिकाएं लिखने लगीं। इनसे उन्हें जो थोड़े-बहुत रुपये मिल जाते थे, उनका उन परिस्थितियों में बड़ा मूल्य था। श्री स्काट के पुस्तकालय के उपयोग की उन्हें पूरी छूट थी और ऐनी बेसेन्ट अनुभव कर रही थीं कि उनके जीवन का अगला अध्याय अब शुरू हो रहा है। इस बीच उन्होंने मोन्क्योर डी० कान्वे के कुछ धार्मिक व्याख्यान सुने जिन्होंने उनसे 'हाल ऑफ साइन्स' (विज्ञान हाल) जाने को कहा जहां चार्ल्स ब्रैडला भाषण दिया करते थे। उन्होंने उनसे कहा, "अंग्रेजी भाषा का ब्रैडला सबसे अच्छा वक्ता है, शायद बस जान ब्राइट को छोड़ कर, और बड़ी से बड़ी भीड़ को अपने वश में कर लेने की उनकी शक्ति आश्चर्यजनक है। आप उनसे सहमत हों या न हों, आप उन्हें सुनें अवश्य।"

●

अध्याय 2

स्वतंत्र विचारक तथा उग्रवादी

1874 का वर्ष था जबकि श्रीमती बेसेन्ट 'फ्री थॉट सोसायटी' (स्वतन्त्र विचार समाज) में शामिल हुई और उन्होंने चार्ल्स ब्रैडला का भाषण सुना था। इस अनुभव का उन्होंने जो वर्णन किया है वह अत्यन्त रोचक है :

"गम्भीर, शांत, दृढ़, मजबूत चेहरा, बड़ा-सा सिर, प्रखर आंखें, शानदार चौड़ा और ऊंचा माथा—क्या यही वह आदमी था जिसके बारे में मैंने लोगों को यह कहते सुन रखा था कि वह एक उजड्ड आन्दोलनकारी और धूर्त बकवासी व्यक्ति है ?

"उसने उस बड़े शांत एवं सहज भाव से बोलना शुरू किया, कृष्ण और क्राइस्ट (ईसामसीह) की पौराणिक समानताओं का चित्रण करते हुए, और एक-एक चीज़ को लेकर वह जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता था, वैसे-वैसे उसकी आवाज़ की तेजी और गूंज भी बढ़ती जाती थी और वह तब तक बढ़ती रही जब तक पूरे का पूरा हाल एक तुरही की आवाज़ की तरह गूंजने नहीं लगा। चूंकि मैं उस विषय से परिचित थी, उसके तर्क और भाषा दोनों ही समान रूप से जोरदार और महत्वपूर्ण थे और मैंने पाया कि उसका ज्ञान भी उतना ही गहरा और स्वस्थ था जितनी शानदार उसकी भाषा। उसने अपने वक्तृत्व, कटाक्ष, करुणा, संवेग द्वारा ईसाई अन्धविश्वासों के विरुद्ध बड़े जोश से भाषण किया। वक्ता के तेज प्रवाह में बह कर उपस्थित भीड़ बिलकुल शान्त हो गई, ज्योंही उसने अपने पूरे भाषण का अति उत्तम उपसंहार किया त्योंही पूरा हाल हर्ष ध्वनि और प्रशंसा के एक तूफानी कोलाहल से गूंज उठा।"

जैसा कि ऐनी बेसेन्ट ने अक्सर कहा है : 'हॉल ऑफ साइन्स' की इस प्रथम मुलाकात से ही जिस मित्रता का आरम्भ हुआ, वह मृत्यु तक बनी रही। ऐनी बेसेन्ट का विचार था कि मृत्यु के बाद भी यह स्नेहसूत्र बना रहता है। श्री ब्रैडला और वह बड़े घनिष्ठ मित्र बन गए। वह एक अद्भुत व्यक्ति थे और उनका आग्रह था कि :

"किसी भी विषय पर जिस ओर तुम्हारा झुकाव हो, जब तक उसके विरुद्ध कही गई आलोचनाओं का अध्ययन करने की तुम कोशिश न कर लो, तब तक तुम्हें यह न कहना चाहिए कि तुम्हारी यह राय है।"

"तुम्हें तब तक यह न सोचना चाहिए कि किसी विषय को तुम जानते हो, जब तक उसके बारे में दुनिया के श्रेष्ठतर विद्वानों ने जो कुछ कहा है, उस सबसे परिचित न हो लो।" "सार्वजनिक क्षेत्र में कोई सीधा-सही काम तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कार्यकर्ता जितनी बातें बाहर करता है उतनी से कहीं अधिक का घर में अध्ययन न कर ले।"

"तुम्हें स्वयं अपना कड़े-से-कड़ा परीक्षक होना चाहिए, अपना ही भाषण सुनो, उसकी आलोचना करो, अपने बारे में गालियां सुनो और देखो कि उनमें कितनी सच्चाई है।"

इस मित्रता से बल पाकर और श्री ब्रैडला के उदाहरण से प्रोत्साहित होकर श्रीमती बेसेन्ट ने एक के बाद एक अनेक अवस्थाओं को पार किया; अपनी 'आत्म-जीवनी' के एक अध्याय, 'नास्तिकता, जैसी मैंने जानी और सिखाई' में वह कहती हैं :

"ईश्वर के बारे में जितने भी विचार है, उनमें से कोई प्राप्य भी है या नहीं, इसकी खोज करते-करते मैं इस निष्कर्ष पर पहुंची कि किसी चेतन 'शक्ति' के अस्तित्व के प्रमाण का अभाव है, जो साधारण प्रमाण दिए जाते हैं वे अधूरे हैं और इस पूरी स्थिति, प्रपंच को हम बस केवल हृदयंगम कर सकते हैं और इससे अधिक कुछ नहीं।

"सामान्य मानवी अनुभव जिस स्थिति अथवा व्यापार को मानता है उससे भिन्न भी कोई अन्य स्थिति अथवा व्यापार होता है या नहीं, नास्तिक इसका उत्तर न तो 'हां' में और न 'ना' में देता है···चूंकि पूरे ब्रह्माण्ड के बारे में उनका ज्ञान बहुत ही सीमित और बहुत अपूर्ण है, इसलिए अस्तित्व के जिन रूपों के बारे में वह कुछ नहीं जानता, उनके बारे में नास्तिक न तो कोई स्वीकार करता है और न इन्कार। इसके अतिरिक्त, जिन चीजों के बारे मे वह कुछ नहीं जानता उनके बारे में कही जानेवाली किसी भी बात पर विश्वास करने से भी इन्कार करता है और उसका कहना है कि जो चीज कभी भी ज्ञान का विषय नहीं बन सकती, उसे विश्वास या आस्था का विषय भी कभी नहीं बनाया जाना चाहिए।"

आगे चलकर वह कहती हैं : "हममें से बहुतों के लिए विश्वास से पहले प्रमाण होना चाहिए। मैं बड़ी खुशी से सबके लिए अमरता में उसी तरह विश्वास कर लूंगी जिस तरह इसमें कि 1885 में इस तमाम दुर्गति, अपराध और गरीबी का अंत हो जाएगा—बशर्ते कि मैं ऐसा कर सकती। लेकिन उसके समर्थन में जब तक

कोई विश्वसनीय और निश्चित प्रमाण मेरे सामने नहीं लाया जाता तब तक मैं किसी असम्भव प्रतिज्ञा पर विश्वास करने में असमर्थ हूं। अमरता नितांत असंभव है, इसके पक्ष में कोई भी प्रमाण सामने नहीं लाया जाता है। मैं किसी बात पर केवल इसलिए विश्वास नहीं कर सकती क्योंकि मैं ऐसा चाहती हूं।"

यहां पर हमें यह समझ लेना चाहिए कि ये विचार रखते हुए, उनके दिल में मानवता के उत्थान और दुनिया की दशा सुधारने की लालसा थी। इसलिए उनके लिए ब्रह्माण्ड की एक सुसंगत बौद्धिक धारणा की अपेक्षा नैतिकता का एक सुव्यवस्थित सिद्धांत कहीं अधिक महत्त्व रखता था। उन्हीं की भाषा में, "जब एक पवित्र न्यायी ईश्वर पर मेरी आस्था पूर्णत: खत्म हो गई, तो आचरण के प्रबल महत्त्व और कर्तव्य की बाध्यकारी प्रकृति का मैं बड़े उत्साह से आग्रह करने लगी।" जैसा उन्होंने अपनी पुस्तक 'द ट्रू बेसिस ऑफ मोरैलिटी' (नैतिकता का असली आधार) में कहा है, उनको ऐसा लगा कि :

"मनुष्य के नैतिक विकास को बढ़ाने के लिए मुझे दो चीजें आवश्यक लगती हैं—एक लक्ष्य या आदर्श जो उसकी भावनाओं में आन्दोलन पैदा कर सके और कुछ करने के लिए मजबूर कर सके और दूसरी बात यह कि बुराइयों के स्रोतों को खत्म करने के तरीकों का उसे स्पष्ट तथा पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। पहली आवश्यकता की पूर्ति के लिए मैंने आदर्श को ऐसे रंगों से रंगने की कोशिश मे अपने-अपने स्वभाव के तमाम संवेगों को जुड़ा दिया, जिनमें दूसरों को मोहित करने और लुभाने की शक्ति हो, ताकि उस आदर्श को प्राप्त करने की लालसा और प्रेम मनुष्य को कोशिश करने के लिए झकझोर सके। अगर 'संवेग-स्पर्शित नैतिकता' धर्म हो तो अपने आदर्श पर ध्यान लगाए हुए और उसकी शोभा बढ़ाते हुए अपने ऊंचे-से-ऊंचे भावों को संतुष्ट करके, तमाम-के-तमाम नास्तिकों में मैं सच्ची धार्मिक हूं।"

मनुष्य के जन्मजात महत्त्व के बारे में वह पूर्ण रूप से निश्चित थीं और उनका यह निश्चय बिलकुल स्वाभाविक था। यह मानव-महत्त्व ही उनकी तमाम चिंतनक्रियाओं पर शासन करता था—यद्यपि उनकी यह निश्चितता उनके मानव की पशु-वंश परंपरा के विश्वास से बिलकुल ही असंगत थी। 'गास्पेल ऑफ़ ऐथीज्म' (नास्तिकता का उपदेश) का प्रकाशन 1876 में और "गास्पेल ऑफ़ क्रिश्चियनिटी एण्ड फ्री थॉट" (ईसाइयत और स्वतंत्र विचार) का भी लगभग उन्हीं दिनों हुआ था। उन्होंने डार्विन, हर्बर्ट, स्पेन्स, हक्सले, बुशनर और हैकेल को पढ़ना शुरू किया और उन्हें मनुष्य की

सामाजिक सहज प्रवृत्ति में ही अन्तर्विवेक और उसके मानसिक एवं नैतिक स्वभाव की मजबूती की व्याख्या मिलने लगी थी। स्वयं उन्हीं के शब्दों में :

"नास्तिक व्यक्तिगत दक्षता चाहता है सिर्फ इसलिए नहीं कि उसे इसमें आनन्द मिलता है जैसे वह स्वयं में सुन्दर हो, बल्कि इसलिए भी कि विज्ञान ने उसे सम्पूर्ण मनुष्य जाति की एकता सिखला दी है और वह जानता है कि वह जब अपने स्वभाव के एक-एक करके तमाम तुच्छ, तामसिक तत्त्वों पर विजय पाता है और जिसके फलस्वरूप उसके ऊंचे के राजसिक तत्त्व मजबूत होते जाते हैं, तो इससे केवल उसका निजी लाभ नहीं बल्कि सबका होता है।"

नैतिकता और आचरण के बारे में 1874 तक उनका यही सिद्धांत था। बाद में उन्होंने घोषणा की थी कि स्वतंत्र विचार आन्दोलन के प्रति वह सबसे अधिक कृतज्ञ इसलिए थीं कि उसने नए-नए सत्यों के लिए उनके मस्तिष्क को खुला छोड़ रखा था और साधारण प्रश्नों से भी जूझने के लिए उत्साहित करता था। वह चार्ल्स ब्रैडला के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करती थीं, और धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से, उनके विरुद्ध सार्वजनिक विरोध बढ़ता गया। बहुतों का विश्वास था कि नास्तिकतावाद में पतित नैतिकता निहित होती है। श्रीमती बेसेन्ट के विरुद्ध व्यक्तिगत अनैतिकता के आरोप भी लगाए गए और जैसा वह स्वयं कहती हैं, उनके अति उग्र राजनैतिक विचारों के साथ उनकी नास्तिकता को जोड़कर उनके विरुद्ध घृणा की एक व्यापक भावना पैदा हो गई थी। उन्होंने सार्वजनिक रूप से भूमि के प्रश्न, शाही परिवार पर देश के खर्च, लार्ड सभा की अड़ंगावादी शक्ति आदि पर भाषण देना शुरू कर दिया। इन विषयों के अतिरिक्त उन्होंने पराधीन उपनिवेशों के लिए 'होम रूल' (स्वशासन) की मांग की, आयरलैंड, ट्रान्सवाल, बर्मा, मिस्र और बाद में, भारत में अपनाई जाने वाली सरकारी नीति के विरुद्ध भाषण दिए। श्री ब्रैडला और उन्होंने फांसी की सज़ा और अपराधियों को कोड़े मारने की सजा के विरुद्ध आन्दोलन किया और शिक्षा तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए एक राष्ट्रीय प्रणाली की मांग की। श्री ब्रैडला के साथ अपने कामों के बारे में उनके ये शब्द हैं :

"वर्षों तक उनकी आदत थी कि सुबह के समय गरीब लोगों से मिलने के अपने निश्चित समय के बाद उनका यह नियमित कार्यक्रम था कि इस समय वह सभी आनेवाले गरीबों को कानूनी मश्विरा या और भी तरह-तरह के बिना किसी फीस के मश्विरा देते थे—अपनी किताबें और कागजात लिए हुए मेरे घर आ जाते

थे और फिर घन्टों वहीं बैठे-बैठे काम किया करते थे। मैं भी अपने काम में लगी रहती थी और शायद हम बीच में कभी-कभी दो एक बातें भी कर लेते थे, सिर्फ भोजन के लिए हम लोग उठते थे और इसके बाद शाम को फिर लगभग 10 बजे तक काम किया करते थे—वह हमेशा जब अपने घर होते थे तो जल्दी ही सो जाते थे—और इसके बाद फिर वह तीन चौथाई मील दूर जहां रहते थे चले जाते थे।"

श्रीमती वेसेन्ट ने 'नेशनल रिफार्मर' (राष्ट्रीय सुधारक) नामक समाचार पत्र में काम करना स्वीकार कर लिया था और इसके लिए उन्हें एक गिन्नी (करीब 21 शिलिंग) प्रति सप्ताह मिलती थी। उन्होंने अपने 'ऐजक्स' के कल्पित नाम से लिखना शुरू किया। वह कहती हैं कि सार्वजनिक रूप से बोलने का उनका प्रथम प्रयास एक गार्डेन पार्टी में हुए एक अनौपचारिक गोष्ठी के वादविवाद में हुआ था। उनका सर्वप्रथम सार्वजनिक भाषण 1874 में कोआपरेटिव इन्स्टीट्यूट (सहकारिता संस्थान) में हुआ था जिसका विषय 'महिलाओं की राजनीतिक स्थिति' था। उनका कहना है कि यद्यपि शुरू में वह घबराई थीं लेकिन जब उन्होंने देख लिया कि अब तो खड़ी ही हो गई हूं और अपने सामने बैठे लोगों के चेहरे देखे तो उन्हें विश्वास हो गया कि जमीन हिल नहीं रही है और उनके पैर ठीक से उस पर खड़े हैं तो उनकी तमाम घबराहट खत्म हो गई और ज्योंही उन्हें स्वयं अपनी गूंजती हुई आवाज सुनाई दी, त्योंही उनमें अपनी सामर्थ्य और शक्ति की चेतना जाग उठी और वह चेतना भय की नहीं, आनन्द की थी। बाद में तो भाषण देने में एक बार वह खड़ी भर हो जाएं, फिर तो वह एकदम सरल और स्वाभाविक और स्वयं अपने शब्दों में, "भीड़ की शासक और स्वयं अपनी स्वामिनी" हो जाती थीं।

लगभग यही दिन थे जब जॉन स्टुअर्ट मिल की सहायता से श्री ब्रैडला संसद के चुनाव के लिए खड़े हुए। उनका चुनाव-क्षेत्र नार्थम्पटन था। श्रीमती वेसेन्ट ने चुनाव प्रचार में भाग लिया और इसी में उन्हें दंगा-फसाद का सर्वप्रथम अनुभव हुआ। श्री ब्रैडला के विरुद्ध गन्दे-से-गन्दे आरोप लगाए गए। इसका सबको पता था कि उनका अपनी पत्नी से सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है और कहा जाता था कि, नास्तिक होने के कारण वह विवाह संस्था के ही विरुद्ध हैं और इसीलिए अपनी पत्नी और बच्चों को छोड़ रखा है। वह बड़ी आसानी से अपनी वकालत कर सकते थे, क्योंकि यह बड़ी आसानी से साबित किया जा सकता था कि उनकी पत्नी शराब पीने लगी थीं और पत्नी की ये आदतें ही सम्बन्ध-विच्छेद का कारण थीं। लेकिन श्री ब्रैडला इस

सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं बोले। उनके विरुद्ध जन-भावना को खूब उभारा गया और ठीक चुनाव के दिन एक भीड़ ने उस मकान के दरवाजों को तोड़ कर भीतर घुस गई जहां वह बैठे थे। गनीमत यह थी कि वहां उन्हें बचाने वाले भी काफी लोग थे। श्री ब्रैडला में यह एक विशेष गुण था, कि यद्यपि उन पर अक्सर हमले होते थे, उन्होंने आमतौर पर उन लोगों को मारे पीटे जाने से बचाया जिन्होंने उन्हें बदनाम किया था।

1875 से श्रीमती बेसेन्ट ने 'स्वतंत्र विचार' पर भाषण देने शुरू किए और इसके लिए उन्होंने दौरे भी किए। उनका कहना है कि भाषण देना उन पर शक्तिप्रद औषधि का काम करता था। एक बार उन्होने अपने काफी देर-देर तक खड़े रहने और भाषण देने के बारे में एक डॉक्टर से राय भी ली थी। उसने उत्तर दिया था कि, "यह आपको स्वस्थ कर देगा या मार डालेगा।" और, वह कहती हैं, इसने उन्हें स्वस्थ कर दिया, वह मजबूत और शक्तिशाली हो गईं। अपने दौरों में उन्हें बहुत से आक्रमणों का सामना करना पड़ा। उन पर यह भी आरोप लगाया गया कि वह विवाह संस्था के उन्मूलन का समर्थन करती हैं। उन पर यह गलत आरोप लगाया गया कि उन्होंने 'द बायबिल ऑफ सेक्यूलरिस्ट्स' (धर्मनिरपेक्षवादियों की बायबिल) नामक पुस्तक लिखी है। असलियत यह थी कि कुछ वर्ष पहले एक डॉक्टर ने वह पुस्तक लिखी थी और जैसा आमतौर पर होता है, अन्य बहुत-सी पत्रिकाओं के साथ 'नेशनल रिफार्मर' को भी समालोचना के लिए उसकी एक प्रति भेजी गई थी। वह तीन भागों में थी—पहले में, चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से, जिस विचारधारा का प्रतिपादन किया गया था उसे आमतौर से 'स्वतंत्र प्रेम' कहा जाता है, दूसरा पूरी तौर से चिकित्सा-सम्बन्धी था, और तीसरे में, जन-संख्या के नियमों पर रेवरेंड श्री मैल्थस के सिद्धान्तों की बड़ी सुन्दर और योग्यतापूर्वक व्याख्या की गई थी। जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा निर्देशित दिशाओं का पालन करते हुए, पुस्तक में आग्रह किया गया था कि विवाहित लोगों को अपने जीविका-साधनों के भीतर रहकर स्वेच्छापूर्वक अपने परिवारों की संख्या सीमित करनी चाहिए। पुस्तक की समालोचना करते हुए श्री ब्रैडला ने कहा कि यह "ईमानदार और पवित्र उद्देश्य तथा प्रयोजन से" लिखी गई है। जन-संख्या के जिन नियमों का उसमें प्रतिपादन किया गया था, श्री ब्रैडला ने उनका अध्ययन और पालन करने के लिए श्रमिक लोगों से सिफारिश भी की थी। उनके शत्रुओं ने उनकी इस सिफारिश को पकड़ लिया और घोषणा कर दी कि वह विवाह-

सम्बन्ध के स्थायित्व पर लेखक के विचारों से सहमत थे। श्री ब्रैडला के बार-बार इस आरोप का खंडन करने पर भी उन लोगों ने उस पुस्तक में दिए गए विवाह-विरोधी अंशों को उन्हीं के द्वारा लिखे गए होने का प्रचार किया।

इसी बीच में 'नेशनल सेक्यूलर सोसायटी' (राष्ट्रीय धर्मनिरपेक्ष समाज) के नाम से एक संस्था स्थापित की गई। श्री ब्रैडला इसके अध्यक्ष थे और श्रीमती बेसेन्ट उपाध्यक्ष। जब तक वह थियोसाफिकल सोसायटी में शामिल नहीं हो गईं, तब तक वह इस पद को संभाले रही।

सोसायटी का वर्ष में एक बार सम्मेलन होता था, और उसमें देश में फैले हुए अलग-अलग रहने वाले पुराने-से-पुराने मित्रगण एकत्र होते थे। इस प्रकार 'हमारे चार्ली' (जैसा कि श्री ब्रैडला को कहा जाता था) के निकट अनुयायियों की दोस्ती का देश भर में एक जाल-सा फैला हुआ था। यही वे स्त्री-पुरुष थे जो बार-बार उन्हें चुनाव लड़ने के लिए खर्च का भार सहन करते थे और जब उनका संसदीय संघर्ष हुआ तो हजारों की संख्या में लन्दन में आकर इन्होंने उनके समर्थन में प्रदर्शन किया। और इन्हीं लोगों के चारों तरफ एक बड़ा दल बन गया—"श्री ग्लैडस्टन के बाद किसी के भी व्यक्तिगत अनुयायियों की इतनी बड़ी संख्या नहीं हुई," जैसा कि एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति ने (जिसका धर्म के विषय पर उनसे मतभेद था लेकिन राजनीति में वह इनका समर्थक था) कहा। उनकी वृहद मित्र-मंडली में खदान मजदूर, जुलाहे, मोची, तरह-तरह के व्यापार-उद्योगों में काम करने वाले हजारों हृष्ट-पुष्ट, हट्टे-कट्टे, आत्म-विश्वस्त लोग थे जो बड़े उत्साह से उनके पीछे चलते थे और उन्हें प्यार करते थे।

1835 में रेवरेन्ड श्री मैल्थस के सिद्धान्तों के अनुयायी, डॉ॰ चार्ल्स नोल्टन इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विवाहित लोगों को अपने जीविका-साधनों को ध्यान में रखकर अपने परिवार को सीमित करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। जिसे आजकल परिवार नियोजन कहा जाता है, उसके प्रथम प्रवर्तक श्री नोल्टन ही थे। यह पुस्तक पिछले 40 वर्षों से बाजार में बिक रही थी, और इसका मुख्य विषय शरीर क्रिया-शास्त्र से सम्बन्धित था। उसमें माता-पिता के उत्तरदायित्व और दाम्पत्य सम्बन्धों में दूरदर्शिता अपनाने की बात कही गई थी। जब तक ब्रिस्टल के एक पुस्तक विक्रेता ने पुस्तक के पृष्ठों के बीच में कुछ गन्दे और अश्लील चित्र जोड़ कर बेचना नहीं शुरू किया, तब तक इसके विरुद्ध किसी ने कोई आपत्ति नहीं उठाई थी। उस पर मुकदमा चलाया गया और उसके अपराध स्वीकार कर लेने पर उसे सजा दे दी गई।

इस पर श्री ब्रैडला और श्रीमती बेसेन्ट ने आपस में काफी विचार-विमर्श करके तय किया कि जनसंख्या के प्रश्न पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार-विनिमय करने के अधिकार की परीक्षा के लिए इस पुस्तिका को प्रकाशित किया जाए। वे जानते थे कि ऐसा करने में उनको किस खतरे का सामना करना पड़ेगा लेकिन जैसा श्रीमती बेसेन्ट ने लिखा था :

"हम यह पुस्तिका पुनः प्रकाशित कर रहे हैं, ईमानदारी से यह विश्वास करके कि ऐसे सब प्रश्नों पर जिनका लोगों के सुख पर प्रभाव पड़ता है—चाहे वे धार्मिक हों, चाहे राजनीतिक या सामाजिक हों—उन पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार-विनिमय करने का पूरा-पूरा अधिकार होना चाहिए—इसके लिए किसी भी खतरे का सामना क्यों न करना पड़े। डॉ० नोल्टन ने जो कुछ कहा है हम उस सबसे सहमत नहीं हैं, उनकी 'दार्शनिक कविता' में, हमारे विचार से, दार्शनिक गलतियों की भरमार है, और—चूंकि हममें से कोई भी डॉक्टर नहीं है—हम उनके चिकित्सा-सम्बन्धी विचारों की पुष्टि करने के लिए तैयार नहीं हैं, लेकिन चूंकि प्रगति के लिए विचार-विनिमय अत्यावश्यक है, और जहां विरोधी मतों का दमन किया जाए वहां कोई भी विचार-विनिमय सम्भव नहीं होता, इसलिए हमें सभी मत प्रकाशित करने का अधिकार है, ताकि, किसी भी प्रश्न के हर पहलू को देख सकने में समर्थ होकर जनता उस पर अपनी सही राय बनाने के योग्य हो सके।"

श्री ब्रैडला के लिए इसका अर्थ था अपनी संसदीय स्थिति को निश्चित रूप से बिगाड़ देना। श्रीमती बेसेन्ट के लिए इसका अर्थ था निन्दा और बदनामी। लेकिन फिर भी, जैसा इन दोनों का अपना एक विशेष गुण था, पुस्तिका छप कर जिस दिन बाजार में बिकने को थी, उसके एक दिन पहले 'गिल्ड हाल' और नगर पुलिस के अधिकारियों को उसकी प्रतियां भेज दी गईं। प्रकाशन के तुरन्त बाद ही उनके पास जूजप्पा गारीबाल्दी और फ्रांस के एक संवैधानिक वकील और यहां तक कि कुछ पादरियों की पत्नियों से भी प्रशंसा के पत्र आए। लेकिन कानून की उपेक्षा की नहीं जा सकती थी, फलस्वरूप श्री ब्रैडला तथा श्रीमती बेसेन्ट को गिरफ्तार कर लिया गया। उनका मुकदमा इंगलैंड के प्रधान न्यायाधीश, एक विशेष जूरी के सम्मुख शुरू हुआ। जैसा अक्सर होता था, श्री ब्रैडला और श्रीमती बेसेन्ट दोनों ने अपनी पैरवी स्वयं की। प्रधान न्यायाधीश ने अपनी राय देते हुए उनकी रिहाई पर जोर दिया और श्री ब्रैडला तथा श्रीमती बेसेन्ट की स्पष्टवादिता और साहस की प्रशंसा में वक्तव्य

दिए। अदालत में उपस्थित हर आदमी यही सोचता था कि मुकदमा फतेह हो गया, लेकिन उनके विरुद्ध फैली धार्मिक और राजनीतिक घृणा के कारण जूरी का यह निष्कर्ष था कि इस पुस्तिका से सार्वजनिक नैतिकता का पतन होगा। फिर भी जूरी ने यह स्वीकार किया कि अभियुक्तों का इरादा बुरा नहीं था। फलतः दोनों को 6-6 महीने कैद और दो-दो सौ पौंड जुर्माने की सजा दे दी गई। श्री ब्रैडला और श्रीमती बेसेन्ट ने निर्णय की गलती के प्रश्न पर रिट दायर किया और इसके फल-स्वरूप उनकी सजा खत्म कर दी गई। इसके बाद श्रीमती बेसेन्ट ने स्वयं 'जनसंख्या के कानून' पर एक पुस्तिका लिखी जिसका नाम था 'द ला ऑफ पापुलेशन'।

इसी पर, यह भी कोशिश की गई कि श्रीमती बेसेन्ट को उनके बच्चों की संरक्षता से वंचित कर दिया जाए और 1879 में चान्सरी हाईकोर्ट में इस सम्बन्ध में याचिका पेश की गई। इस याचिका की सुनवाई सर जार्ज जेसेल एम० आर० की अदालत में हुई जिनके बारे में श्रीमती बेसेन्ट का कहना है : "उन्हें हेब्रू कट्टरता की प्राचीन भावना से प्रेरणा मिलती थी, जिसमें उन्होंने एक दुनियादार आदमी की काम चलाऊ नैतिकता जोड़ दी है, ईमानदारी और सच्चाई के प्रति शंकालु और सार्वजनिक रूप से किसी भी अप्रिय आदर्श अथवा सिद्धांत के प्रति लगन एवं निष्ठा को वह बड़ी नीची निगाह से देखते थे।"

श्रीमती बेसेन्ट को अपने बच्चों के संरक्षण से वंचित कर दिया गया। उनका स्वास्थ्य गिर गया था लेकिन फिर भी उन्होंने इस फैसले के विरुद्ध अपील की। 1879 में ही अपील न्यायालय ने बच्चों को अपने पास रखने के पिता के अटल अधिकार का उचित ठहराया लेकिन उन्हें (श्रीमती बेसेन्ट का) बच्चों से मिलने का अधिकार दे दिया। जैसा श्रीमती बेसेन्ट ने कहा है, "विवाहित माता के अपने बच्चों पर अधिकार की अवहेलना एक कलंक और ऐसी गलती है जिसे बाद में संसद ने ठीक कर दिया।"

कुछ भी हो, इन घरेलू दुर्घटनाओं के अतिरिक्त, नोल्टन पैम्फलेट में श्री ब्रैडला और श्रीमती बेसेन्ट ने जो दृष्टिकोण प्रतिपादित किया था, जनता ने उसे बहुत पसन्द किया और 1893 से तो ईसाई धार्मिक पत्रिकाएं भी परिवार की संख्या को स्वेच्छा-पूर्वक सीमित के अधिकार और कर्तव्य का समर्थन करने लगी हैं।

मैल्थसी सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले श्री ट्रूलव ऐसे लोगों से बदला लेने और उनके परेशान किए जाने के बावजूद इस मुकदमे का यह परिणाम तो हुआ ही

कि पूरे यूनाइटेड किंगडम में एक आन्दोलन-सा चलने लगा और विचारों ने काफी लोकप्रियता प्राप्त कर ली।

इस विषय को छेड़ने से पहले यह जान लेना अच्छा होगा कि श्रीमती बेसेन्ट के मैडम ब्लैवट्स्की के प्रभाव में आने और थियोसाफिकल सोसायटी में शामिल होने के बाद, उन्होंने बहुत से उन सिद्धान्तों के लिए काम करना छोड़ दिया जिन के लिए उन्होंने इतनी परेशानियां झेलीं। उन्होंने मैडम ब्लैवट्स्की का यह सिद्धान्त मान लिया कि थियोसाफिस्टों को सिर्फ आत्म-संयम का मार्ग अपनाना चाहिए और जनसंख्या रोकने के लिए अन्य उपायों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। फलतः जैसा वह कहती हैं, उन्होंने 'द ला ऑफ पापुलेशन' को फिर छपाने या उसका कापीराइट बेचने का अपना निश्चय बदल दिया। इससे उनके बहुत से उन मित्रों को बहुत दुख हुआ जिन्होंने उनका बड़ी हिम्मत से साथ दिया था, जैसा उन्होंने स्वयं कहा है, "यह सोचकर मुझे आश्चर्य होता है कि क्या ऐसा हमेशा ही होता रहेगा कि जब कोई व्यक्ति ऊपर की ओर चढ़ रहा हो तो उसका हर कदम स्वयं उसके अपने और जिन लोगों को वह प्यार करता है, उनके दिलों पर ही रखा जाए।" इन्हीं दिनों, श्रीमती बेसेन्ट एक लम्बी और भयंकर बीमारी से पीड़ित हो गईं लेकिन वह ज्योंही ठीक हुईं त्योंही लौट कर 'स्वतंत्र विचार' प्रकाशनों और डिजैरली सरकार की नीतियों के विरुद्ध संघर्ष में फिर जुट गईं। 1878 में उन्होंने एक ऐसी पुस्तक लिखी जिसे आमतौर पर लोग इतना नहीं जानते हैं जितना जानना चाहिए। उसका नाम था 'इंगलैंड, भारत और अफगानिस्तान'। उसमें उन्होंने अपने काफी बाद वाले सिद्धान्तों—भारत के लिए 'होम रूल' के पक्ष में और साम्राज्यवादी प्रसार के विरोध में—के संकेत दिए थे।

उन्हीं दिनों श्रीमती बेसेन्ट ने 'नेशनल रिफार्मर' के लोकप्रिय वैज्ञानिक लेखों के प्रसिद्ध लेखक डॉ० ऐवलिंग के सहयोग से विज्ञान का बड़ा गहन अध्ययन शुरू कर दिया था। विज्ञान की छात्र की हैसियत से लन्दन विश्वविद्यालय में भी भरती हो गई थीं। उसी वर्ष, 1879 में, अपने बच्चों के संरक्षता के मामले में अपील न्यायालय के सम्मुख उन्होंने अपने मुकदमे की पैरवी स्वयं की थी। इन अदालती कार्यों की परेशानी से राहत के लिए उन्होंने बीजगणित, ज्यामिति और भौतिकी के अध्ययन की शरण ली। जब वह अपना मुकदमा जीत गईं, तो श्री ब्रैडला ने 'नेशनल रिफार्मर' में लिखा कि जिस पैरवी से यह मुकदमा जीता गया है, वह स्वतंत्र विचारों के अभिवचन की अपनी साहसिकता के लिए अद्वितीय है। बाद में विज्ञान शिक्षक की योग्यता उन्होंने

प्राप्त कर ली, लन्दन विश्वविद्यालय की बी० एस० सी० परीक्षा भी दी लेकिन वह विश्वविद्यालय में अध्ययन न कर सकें इसकी भी कोशिशें की गईं और वास्तव में, उन्हें रीजेन्ट पार्क के वनस्पति उद्यान में प्रवेश करने से रोक दिया गया। इन तमाम अध्ययनों के साथ-साथ, श्री अर्बर्ट बरोज़ के साथ मिलकर उन्होंने भूमि कानून सुधार पर लन्दन में एक सम्मेलन की व्यवस्था की।

इन तमाम कार्यों और हलचलों के बीच श्री ब्रैडला का संसदीय संघर्ष शुरू हो गया जो काफी लम्बे अर्से तक चला। वह श्री लाबूशेर के साथ-साथ संसद के लिए निर्वाचित हो गए। लेकिन उनके कुछ कट्टर विरोधी थे जिन्होंने उन्हें संसद में बैठने से रोकने की कोशिश की। जब वह कामन सभा में गए तो उन्होंने प्रार्थना की कि शपथ की बजाय उन्हें गम्भीर अभिवचन करने दिया जाए। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त कर दी गई और सदन के 'बार' में उनकी सुनवाई हुई। उन्होंने वहां जो भाषण दिया वह श्रीमती बेसेन्ट के शब्दों में इतना संयत, उत्कृष्ट और सम्मानजनक था कि स्वयं अपने नियमों का उल्लंघन करके, सदन ने चिल्लाकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। लेकिन उनके अत्यंत प्रभावशाली वक्तृत्व के बावजूद धार्मिक असहनशीलता की जीत हुई और सदन ने निश्चय किया कि उन्हें अभिवचन की अनुमति न दी जाए। यह निर्णय सुन कर श्री ब्रैडला ने कहा कि वह इस आदेश को मानने से आदरपूर्वक इन्कार करते हैं क्योंकि वह कानून के विरुद्ध है। सदन के सार्जेन्ट से उन्हें बाहर निकालने को कहा गया। इस घटना के सम्बन्ध में श्रीमती बेसेन्ट ने एक पैम्फलेट लिखा जो काफी संख्या में वितरित किया गया। उसका शीर्षक था 'ला-मेकर्स और ला-ब्रेकर्स' (कानून बनानेवाले और कानून तोड़नेवाले)। एक बहुत बड़ी भीड़ ने इकट्ठी होकर कामन सभा के निर्णय का विरोध किया। एक सप्ताह से भी कम समय के भीतर 200 से अधिक सभाएं हुईं जिन में विरोध और रोष प्रकट किया गया। बाद में सदन ने तो अपना निर्णय वापस ले लिया लेकिन टोरियों और कट्टरपंथियों ने इस मामले को अदालतों तक पहुंचा दिया। श्री ब्रैडला सदन के अन्दर जाकर ज्योंही अपनी कुर्सी पर बैठे थे कि बिना आवश्यक नियमित शपथ लिए वोट देने के अभियोग का उन्हें आदेश (रिट) दिया गया। 1889 में अपील न्यायालय ने श्री ब्रैडला के विरुद्ध फैसला दिया और उनके चुनाव को रद्द कर दिया गया। लेकिन बाद में फिर चुनाव होने पर वह पुनः निर्वाचित हो गए। श्री ग्लैड्स्टन ने वायदा किया कि वह शीघ्र ही सदन में एक 'अभिवचन विधेयक' पेश करेंगे लेकिन विरोधी

दल के दबाव के कारण वह ऐसा नहीं कर सके। इस पर श्री ब्रैडला ने निश्चय किया कि वह अपने अधिकारों पर दृढ़तापूर्वक अमल करने के लिए सदन के सम्मुख जाएंगे। सदन के चारों ओर पुलिस का कड़ा पहरा लगा दिया गया, उसके बड़े फाटक बन्द कर दिए गए और पूरी जुलाई भर यही व्यवस्था रही। देश-भर में जगह-जगह बड़ी-बड़ी सभाएं की गईं और ट्रैफालगर स्क्वायर में एक बहुत बड़ी सभा की गई जिसमें इंगलैंड और स्काटलैण्ड के सभी भागों से आए प्रतिनिधियों ने भाग लिया। 1880 की 3 अगस्त को श्री ब्रैडला ने श्रीमती बेसेन्ट को साथ लिया और कामन सभा के लिए चल दिया। उन्होंने श्रीमती बेसेन्ट को यह आदेश दे दिया कि, "देखो, कुछ भी क्यों न हो, जनता को कोई हिंसात्मक कार्य न करने देना। मुझे विश्वास है कि तुम उन्हें शांत रख सकोगी।" यह कितनी मजेदार बात है कि काफी वर्षों बाद भारत में असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में श्रीमती बेसेन्ट ने इसी आदेश को दोहराया था। यह आदेश देकर श्री ब्रैडला सदन चले गए। बाहर भीड़ जमा थी। पुलिस इनसे पहले से ही नाराज थी। भीड़ बराबर बढ़ती जा रही थी और 'न्याय, न्याय' चिल्लाती हुई फाटक तोड़ कर सदन में प्रवेश करना चाहती थी। जब पुलिस इस बढ़ती हुई भीड़ को रोकने के लिए फाटक पर मुस्तैदी से डट गई तो श्रीमती बेसेन्ट पुलिस और क्रुद्ध भीड़ दोनों के बीच में आई और भीड़ से निवेदन किया कि वह रुक जाए, श्री ब्रैडला के लिए रुक जाए। लोग पीछे हट गए, यद्यपि उनमें से एक बोला, "अगर आप हम लोगों को जाने देते तो हम उन्हें सदन के भीतर ही नहीं अध्यक्ष की कुर्सी तक ले गए होते।"

इसी बीच में दस आदमियों की सहायता से श्री ब्रैडला को बाहर निकाल दिया गया। उनके मजबूत, विशाल और तगड़े शरीर को बाहर निकालना कोई आसान बात नहीं थी। उनकी एक-एक नस और एक-एक मांस पेशी अपने-अपने ऊपर हो रहे जुल्म का मुकाबला कर रही थी। लेकिन अन्त में उन लोगों ने उन्हें धक्का दे देकर, एक तरह से, बाहर फेंक दिया। कई सप्ताह तक श्री ब्रैडला को अपने हाथों को पट्टियों से बंधा रखना पड़ा, लेकिन फिर भी अस्पताल से बाहर आते ही उन्होने अपील की कि किसी प्रकार का दंगा या गड़बड़ी नहीं होनी चाहिए। देश-भर में आन्दोलन अब भी चल रहा था। ढाई लाख हस्ताक्षरों से एक याचिका सदन के सम्मुख पेश की गई। मई 1882 में श्रीमती बेसेन्ट ने लिखा था कि श्री ब्रैडला एक ऐसे आदमी हैं जो उन पर इतना बड़ा अन्याय होने से एक महान सिद्धान्त के अवतार बन गए थे।

आखिर इस आन्दोलन की उग्रता और बढ़ती गई और अगले आम चुनाव में फिर निर्वाचित होकर श्री ब्रैडला ने संसद में स्थान ग्रहण किया। उन्होंने वह एक 'शपथ विधेयक' पेश और उसे पारित भी कराया जिसने सदस्यों को केवल अभिवचन का ही अधिकार नहीं दिलाया, बल्कि स्वतंत्र विचारकों को अदालतों में जूरी बनने और गवाही देने का भी अधिकारी बना दिया।

जब यह संघर्ष खत्म हो गया तो श्रीमती बेसेन्ट ने आयरलैण्ड में 'बल प्रयोग कानून' और किसानों की बेदखली के विरुद्ध लड़ाई शुरू की। दूरवासी जमींदारों के चंगुल में जकड़े किसानों की दुर्दशा पर उन्होंने लम्बे-लम्बे बहुत से लेख लिखे।

इन तमाम लड़ाई-झगड़ों के बीच में ही श्रीमती बेसेन्ट पहली बार थियोसाफी के सम्पर्क में आईं। कर्नल ओल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की ने उसके सिद्धान्तों की एक रूपरेखा तैयार की थी। और यहां पर यह उल्लेखनीय है कि 1882 में लिखे गए अपने एक लेख में लिखा था कि "थियोसाफिकल सोसायटी के पास अपने सदस्यों के लिए अतीत की धार्मिक-दार्शनिक कल्पनाओं में एक स्वप्नवत, संवेगात्मक और शास्त्रीय रुचि से अधिक कोई निश्चित विचार नहीं हैं। मैडम ब्लैवट्स्की ने इसका जो उत्तर दिया था उसमें विचारों की स्वतंत्रता के लिए लड़ी जानेवाली लम्बी लड़ाई में अन्धी कट्टरता के हाथों कष्ट भुगतने वाले एक अति प्रबुद्ध व्यक्ति के रूप में उनकी बड़ी प्रशंसा की थी। श्रीमती बेसेन्ट की बुद्धि बहुमुखी थी यह उनका एक विशेष गुण था कि जब एक ओर से तमाम घटनाएं घटित हो रही थीं, तो दूसरी ओर ऐसी अशान्ति के बीच, उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय से वनस्पति विज्ञान की 'आनर्स' की डिग्री भी प्राप्त की। पूरे इंगलैंड में यह डिग्री पाने वाली यह प्रथम छात्रा थीं। मिस्र के सम्बन्ध में ब्रिटेन की नीति के विरोध में उन्होंने अनेक सभाओं में भाषण भी दिए। इसी बीच, 'स्वतंत्र विचार आन्दोलन' के प्रकाशन व्यवसाय के कार्य का भी काफी विस्तार किया गया और इसके अलावा मजदूरों में और समाजवाद के लिए उनके कार्यों में भी काफ़ी तेज़ी आई। समाजवादी और मजदूर आन्दोलन के सम्बन्ध में उन्होंने मुख्यतः इन लोगों के साथ काम किया—बर्नार्ड शा, डॉ० ऐवलिंग, श्री मोनक्योर डी० कानवे, प्रोफेसर लुडविग बुशनर, श्री एन्ज गूएयो (एव्ज गूएयो) और प्रोफेसर हैकेल।

1883 में श्री ब्रैडला की कानूनी परेशानियां खत्म हो गईं और जब लोक सभा ने उनके पक्ष में निर्णय दे दिया तो वह पूरी तरह से जीत गए। मुकदमे के दौरान में, साक्षी के रूप में श्रीमती बेसेन्ट ने और मुकदमे के एक पक्ष के रूप में श्री ब्रैडला ने

अपने कानूनी बुद्धि एवं विद्वता और अनुभवी वक्तृत्व का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन किया। श्रीमती बेसेन्ट ने लार्ड कोलरिज की, जिनका निर्णय प्रधान निर्णय था, विशेष रूप से प्रशंसा करते हुए कहा है कि, "सच्ची धार्मिक भावना, घृणित अपधर्म और तमाम द्वेषों के बावजूद ईमानदार और निष्पक्ष होने के निश्चय के बीच के होने वाले द्वन्द्व से अधिक कोई और मार्मिक (मनोदशा) की कल्पना नहीं की जा सकती है।" उसी बीच में जैसा कि 'पाल माल गजट' ने लिखा था—श्री ब्रैडला का कट्टर-से-कट्टर शत्रु भी उनकी जीतों की तेजस्विता से इन्कार नहीं कर सकता।

इस समय तक श्री ब्रैडला और श्रीमती बेसेन्ट दोनों की प्रसिद्धि यूरोप महाद्वीप तक भी पहुंच चुकी थी। ऐम्सटर्डम में हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और वेनिस में हुई एक अन्य सभा ने श्रीमती बेसेन्ट के मन में समाजवाद के प्रति दिलचस्पी पैदा कर दी। वह श्री हिन्डमैन से मिलीं, जिन्हें उन्होंने समाजवाद का सबसे अधिक आत्म-त्यागी समर्थक बताया। बड़े आश्चर्य की बात है कि शुरू के समाजवादी लोग श्री ब्रैडला के सख्त विरोधी थे और श्री हिन्डमैन ने ही उनमें मेल कराया था। उन्हीं दिनों श्रीमती बेसेन्ट जार्ज बर्नार्ड शा से भी मिलीं, जिनके बारे में उनका कहना था कि समाजवादी लेखकों में वह सबसे अधिक तेजस्वी हैं और अत्यंत उत्तेजक व्यक्ति हैं। 1947 में प्रकाशित 'ऐनी बेसेन्ट सेन्टीनरी बुक' (ऐनी बेसेन्ट शताब्दी ग्रंथ) में अपने एक लेख में बर्नार्ड शा कहते हैं—"श्रीमती बेसेन्ट किसी भी प्रश्न पर तुरन्त निर्णय लेने वाली महिला थीं। अंतिम रूप से अपने को पहचान पाने से पहले वह बहुत से आन्दोलनों और संस्थाओं के नमूने देख चुकी थीं, उनके ये परिवर्तन क्रमिक नहीं थे, वह किसी नए आन्दोलन में हमेशा उछाल मार कर जाती थीं।" उनके अनुसार जिस समय श्रीमती बेसेन्ट ने समाजवाद में प्रवेश किया था, उस समय वह इंगलैंड में, और हो सकता है यूरोप में, सर्वश्रेष्ठ वक्ता थीं, और वह कहते हैं कि, "मैंने कभी उनसे अच्छे बोलने वाले को नहीं सुना है, तब तक किसी ने उनका मुकाबला नहीं किया था।"

धीरे-धीरे उन्होंने अपने अनेक प्रकार के प्रयासों को जाने-माने समाज सुधारकों के प्रयासों से मिला दिया और साधारण लोगों की सामाजिक दशा सुधारने के काम में जुट गईं। इसका श्री गणेश उन्होंने सर जॉन लबक के उस बिल के विरोध से हुआ, जिसमें युवक कर्मचारियों के लिए काम का बारह घन्टों का दिन निश्चित किया गया था। उन्होंने स्कूल बोर्ड के बच्चों को निशुल्क भोजन देने की भी मांग की जिस पर

एक श्री डब्लू० पी० बाल से काफी वादविवाद चला। राजनीतिक शक्ति के पुनर्वितरण, समाज के विकास और आधुनिक समाजवाद पर कई लेखमालाएं प्रकाशित कीं। उन्होंने व्यक्तिगत अध्ययन करके एडिनबरा की गन्दी बस्तियों का भी अपने लेखों में वर्णन किया। उन्हीं के शब्दों में उन्होंने, "गरीबों के दुखदर्दों की चीख उन लोगों के कानों तक पहुंचाई जो न तो सोचते हैं न पर्वाह करते हैं...उन गन्दी बस्तियों और गलियों से होकर शहरों की सड़कों में आने पर, केवल कुछ ही कदमों का फासला नारकीय जीवन और सुन्दरता को अलग-अलग कर देता है, आदमियों आदमियों के बीच इतना भयानक अन्तर, इतने स्पष्ट और तीव्र रूप में उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था, अविलम्बता का दबाव लिए हुए यह प्रश्न मेरे कानों में गूंजने लगा, "क्या इसका कोई इलाज नहीं है? क्या अमीर और गरीब हमेशा ही होने चाहिए।" कुछ का कहना है कि ऐसा ही होना चाहिए, महल और झोंपड़ियां सदा ही रहेंगी वैसे ही जैसे प्रकाश के साथ छाया रहती है। नहीं, मैं ऐसा नहीं विश्वास करती। मेरा विश्वास है कि गरीबी अज्ञान तथा गलत और खराब सामाजिक व्यवस्थाओं का परिणाम है और इसलिए ज्ञान और सामाजिक परिवर्तन द्वारा इसे दूर किया जा सकता है।"

श्रीमती पेथिक लारेन्स, जिन्होंने अपने पति के साथ-साथ हमेशा डॉ० बेसेन्ट के कामों में—पहले इंगलैंड में फिर भारत में, हाथ बंटाया था, कहती हैं :

'ऐनी बेसेन्ट, जिन्हें व्यक्तिगत रूप से जानने का सौभाग्य मुझे प्राप्त था, उन्नीसवीं तथा शुरू की बीसवीं शताब्दियों की एक विशिष्ट पथप्रदर्शक हैं। वह ऐसे तीन आन्दोलनों की नेता थीं, जो मुझे सबसे अधिक प्रिय थे। मुझे याद है कि मजदूर आन्दोलन के आरम्भिक दिनों में उन्होंने क्या-क्या किया, और विशेषकर दियासलाई के कारखानों की लड़कियों का उनका नेतृत्व—जब उन्होंने हड़ताल की थी।

"अपने देश में महिलाओं को समान नागरिक अधिकार दिलाने के संघर्ष में मेरा उनका साथ रहा। उस साथ और सहयोग की स्मृति का मेरे लिए बहुत मूल्य है। मुझे याद है कि 1910 में लन्दन एम्बैंकमेन्ट से रायल ऐलबर्ट हाल तक वह हमारे जुलूस में गई थीं और वहां पहुंच कर उन्होंने बहुत प्रभावशाली ढग से भाषण दिया था।"

"इन सब बातों के अलावा और सबसे अधिक, मेरी दृष्टि में वह सर्वश्रेष्ठ इसलिए हैं कि एक स्वतंत्र और स्वाधीन भारत के विचार के पक्ष में ब्रिटिश जनमत को बदलने और अन्त में उसका समर्थन प्राप्त करने में उनके प्रभाव का बहुत बड़ा हाथ है।"

इस वर्णन के साथ पहले 'पाल माल गजट' के और फिर 'रिव्यू ऑफ़ रिव्यूज़' के सम्पादक श्री डब्लू० टी० स्टेड द्वारा की गई श्रीमती बेसेन्ट की प्रशंसा भी जोड़ी जा सकती है। 1891 में उन्होंने जो यह लिखा वह श्री नीदरकोट द्वारा अभी हाल ही में लिखी बड़ी सुन्दर, किन्तु एक-पक्षीय जीवनी की अपेक्षा अधिक सही चित्र प्रस्तुत करता है।

"इस समय (1891 में) ऐनी बेसेन्ट मेरी मित्रों में से एक हैं, जैसी कि वह पिछले चार-पांच साल से रही हैं। मुझे उनको बिलकुल छुटपन से जानने का सौभाग्य तो नहीं मिल सका। न तो जब वह एक धार्मिक स्कूली छात्रा थीं और न ही जबकि एक युवती होकर उन्होंने धर्म की कट्टरता का विरोध किया। हां, मैं उन्हें एक भौतिकवादी और नास्तिक के रूप में जानता था। और अब मैं उन्हें एक थियोसाफिस्ट के रूप में जानता हूं और आगे चलकर उनका विकास कोई भी दिशा क्यों न ले, उनके लिए मुझ में स्नेहपूर्ण प्रशंसा की जो भावना है, उस पर कोई असर नहीं पड़ने का। वर्तमान पीढ़ी की तीन विशिष्ट तथा दिव्य महिलाओं में से वह एक हैं। श्रीमती बूथ, श्रीमती बटलर और श्रीमती बेसेन्ट, ये तीनों उन अति उत्साही प्रचारकों की विशिष्ट त्रिमूर्ति है, जिसके जोश, शक्ति और उत्साह ने हमारे युग पर बड़ी गहरी छाप छोड़ी है। इन तीनों में श्रीमती बेसेन्ट सबसे छोटी हैं, 1847 में वह जन्मी थीं, और चूंकि अभी वह 45 की भी नहीं हैं, इसलिए हो सकता है कि श्रीमती फासेट के साथ-साथ वह भी कामन सभा की सदस्य हो जाएं। श्रीमती बूथ अब हम लोगों के बीच नहीं हैं। श्रीमती बटलर, यद्यपि वह विधवा हैं, आयु भी बहुत है और बीमार रहती हैं, लेकिन आज भी वह उस आग को हवा दिए जाती हैं, जिसे उन्होंने लोगों के दिलों में प्रज्वलित किया था, लेकिन श्रीमती बेसेन्ट ही इन तीनों में ऐसी हैं, जो अभी अपनी आरम्भिक अवस्था में ही हैं, जिन्होंने अभी अपनी आखरी बात नहीं कही है और उनके अंतिम एवं चरम विकास का अभी कोई पता नहीं है। पिछले महीने ही, हर ज़ुबान पर उनका नाम था और समाचारपत्रों में, सत्य की खोज में उनकी नवीनतम प्रगति के बारे में असंख्य पत्र छपे हैं। अगले महीने वह भारत जाने वाली हैं, केवल पूर्वीय ज्ञान के पवित्र तीर्थ स्थानों को पश्चिम से जाने वाले एक तीर्थयात्री के रूप में नहीं, बल्कि उस आस्था और विश्वास की दूत और प्रचारिका के रूप में जिसकी अद्भुत सिद्धि मैडम ब्लेट्वस्की को प्राप्त हुई है। अभी पिछले दिनों उन्होंने पेरिस में एक समाजवाद सम्मेलन की अध्यक्षता की है, अगले वर्ष वह कहां होंगी और क्या

कर रही होंगी, इसके बारे में इसके अतिरिक्त कोई कुछ नहीं कह सकता कि वह कहीं भी जाएं और कुछ भी करें पर एक चीज़ निश्चित है कि गरीबों और दलितों के लिए उनके दिल में जो सहानुभूति और प्रेम है, उससे वह बराबर उत्साहित होती रहेंगी और उन्हें उन सबका स्नेह मिलता रहेगा। और वे गरीब भी उनके काफी निकट आएंगे उनके विचारों को अधिक समझने के लिए।

"फिर भी, अपने युग पर अपने प्रभावशाली और स्पष्ट व्यक्तित्व की छाप डालने वाली आधी दर्जन महिलाओं में श्रीमती बेसेन्ट एक ऐसी हैं जिनके बारे में, अभी कुछ ही दिनों पहले तक कुछ भी संकेत करना भी ठीक नहीं समझा जाता था, जैसे वह किसी दूसरी ओर गलत दुनिया में रह रही हों। जब मैंने यह 'रिव्यू' आरम्भ किया तो प्रथम अंक निकलने से पहले ही, इसके पृष्ठों में उनके विरुद्ध बहिष्कार की नीति लागू करने के प्रयत्नों को रोकने के लिए कुछ सख्ती से काम लेना पड़ा। यहां यह कहने की कोई जरूरत नहीं कि कुछ अप्रसिद्ध एवं संदिग्ध क्षेत्रों में यह बहिष्कार अब भी चल रहा है। श्रीमती बेसेन्ट ने इस नए 'रिव्यू' का स्वागत करते हुए मुझे एक छोटा सा पत्र लिखा था जो तब के बहुत से प्रसिद्ध और विशिष्ट व्यक्तियों के पत्रों के साथ शामिल कर लिया गया था। 'रिव्यू' के व्यापार विभाग ने शिकायत की कि देखिए, हमें सचमुच बहुत दुख है। श्रीमती बेसेन्ट की हम बहुत इज्जत करते हैं लेकिन व्यापार तो व्यापार ही है और इससे कोई लाभ नहीं होगा, और विशेषकर प्रथम अंक में, कि उनके नाम को प्रमुखता दी जाए। क्या श्री स्टेड इसे फरवरी तक के लिए स्थगित नहीं कर सकते ? सम्पादकीय विभाग ने इसका जवाब दे दिया, लेकिन उनके बाद फिर विरोध आया कि, "अच्छा अगर आप चाहते ही हैं तो ऐसा ही करें; लेकिन इतना याद रखें कि इस नाम से हम अपने सैकड़ों ग्राहक खो देंगे। ऐसे बीसों पादरी हैं जो, अगर इसमें श्रीमती बेसेन्ट का नाम छपा तो, 'रिव्यू' को अपने द्वार पर भी फटकने तक न देंगे। यह बात सही हो या न हो। अगर ऐसा है तो इससे उन पादरियों का ही बुरा होगा। उनका पत्र तो प्रकाशित हुआ ही। लेकिन विरोध की यह घटना है मज़ेदार क्योंकि इससे उस द्वेष का संकेत मिलता है जो श्रीमती बेसेन्ट के प्रति धार्मिक पादरियों के हृदय में रहा है।

"हो सकता है कि अब भी हमारे कुछ पाठक ऐसे हों जो विरोध के बावजूद श्रीमती बेसेन्ट के उस पत्र के प्रकाशन के बाद से इस पत्रिका में बराबर छपती रहने वाली सामग्री की भावना को ग्रहण न कर पाए हों और इस 'कैरेक्टर स्केच' (चरित्र

वर्णन) के लिए श्रीमती वेसेन्ट के चुने जाने पर आपत्ति करें। ऐसे पाठकों की संख्या अधिक हो या कम, मैं उनसे सिर्फ यही कहना चाहूंगा कि श्रीमती वेसेन्ट ने अपने अन्तर्विवेक के लिए जितना त्याग और बलिदान किया है, ये लोग जब उसका दशांश भी कर लें, तब वे लोग जो आज उनका तिरस्कार करते हैं—जैसे वह कोई बदनाम व्यक्ति हों—या उनका नाम आते ही मुंह बिचकाने लगते हैं, शायद ऐसों में गिने जाने लगें जो उनके (श्रीमती वेसेन्ट के) जूतों के फीते खोलने के योग्य भी न हों।

"समाचार-पत्रों ने इतने दिनों से उनके विरुद्ध बहिष्कार की जो नीति अपना रखी है, उसका एक यह परिणाम निकला है कि हमारी भाषा में लिखी गई एक अत्यन्त रमणीय एवं कारुणिक आत्म-जीवनी का रेखाचित्र असंख्य अंग्रेजी-भाषी लोगों के लिए न होने के समान रह गया है। 1885 में श्रीमती वेसेन्ट ने अपनी आध्यात्मिक यात्रा के बारे में जो कुछ थोड़े-से, छोटे-छोटे टुकड़ों में, रेखाचित्रों की रचना की थी उनका, मेरे विचार में, मेरे पाठकों को पता भी नहीं है। अब वह पुस्तक अप्राप्य है और इसलिए जब मैं उसके पृष्ठों से कुछ अंश लेकर यहां छापूंगा तो वे इसके लिए कृतज्ञ ही होंगे। चूंकि पुरानी बातें खत्म हो चुकी हैं और आम जनता अब इस तथ्य को अच्छी तरह समझ गई है कि श्रीमती वेसेन्ट हमारे युग की सबसे विशिष्ट महिलाओं में से एक हैं, इसलिए मुझे आशा है कि वह अपनी यात्रा की बाद वाली प्रगति के बारे में एक और अध्याय जोड़ उसे पुनः प्रकाशित करेंगी। धर्मोपदेश से बुद्धिवाद-विरोध और फिर एक मोटे तौर की गिरजाई आस्तिकता से होते हुए नास्तिक भौतिकवाद की स्पष्ट धर्म-नकारिता और फिर अध्यात्मवाद के रास्ते से निकल कर थियोसाफी के क्षेत्र में प्रवेश—यह एक अति धार्मिक आत्मा की बड़ी लम्बी यात्रा है और ऐसी यात्राओं का प्रामाणिक वर्णन आजकल लिखी जाने वाली धार्मिक जीवनियों में ढूंढना बेकार है। ऐसी कहानी से न जाने कितने ही संकेत मिलेंगे, कितनी ही दिशाएं दिखेंगी—इसका लेखक चाहे बिलकुल ही अनजान और अप्रसिद्ध क्यों न हो। और फिर वह कितनी रोचक होगी जब हमें वह एक ऐसे व्यक्ति से मिलेगी जो इस समय की जीवित सर्वाधिक वाकपटु महिलाओं में से एक है और जो अब भी अपने प्रभाव और सामर्थ्य के शिरोबिन्दु पर है।"

श्रीमती वेसेन्ट के इन दिनों के कार्यों तथा घटनाओं का एक सुन्दर निरूपण हमें मजदूर दल के नेता, ब्रिटिश सार्वजनिक जीवन के प्रसिद्ध कार्यकर्त्ता और 1824 में मजदूर सरकार के मन्त्री, श्री लैन्सबरी के एक लेख में मिलता है :

"श्रीमती बेसेन्ट अनेक कामों में लगी रहीं परन्तु वे सुधार आन्दोलन में सबसे आगे रही हैं। उन्होंने कभी बीच का समझौतावादी रास्ता नहीं अपनाया बल्कि हमेशा पूर्ण सत्य पर डटी रहीं और अपने अनुयायियों को पीछे-पीछे चलने का निमंत्रण देती रहीं—वह उन्हें कहीं भी क्यों न ले जाए।

"ब्रिटेन के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में उन्होंने जो कुछ किया उसके बारे में सब-कुछ लिखने का अर्थ होगा 1874 से उनके भारत जाने के समय तक के तमाम सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों की लगभग पूरी कहानी लिखना। ऐसा कोई भी आन्दोलन नहीं था जिसमें उन्होंने एक विशेष और अन्यों से भिन्न भाग न लिया हो और इसके बाद जब वह एक लम्बे अर्से तक भारत में रहीं तब भी (यहां के) महत्वपूर्ण सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों पर उनकी दिलचस्पी में कोई कमी नहीं आई। इसके प्रमाणस्वरूप, 1813-14 में इंगलैंड में महिला मताधिकार की ओर से दिए गए उनके भाषण और उन्हीं दिनों भवन-निर्माण व्यापार में हुई तालाबन्दी के दौरान किए गए उनके कार्य देखे जा सकते हैं। 'हाल ऑफ साइन्स' और 'सेन्ट जेम्स हाल' में हुई बड़ी-बड़ी सभाओं में मैंने उनके भाषण सुने हैं, लन्दन के पार्कों और ट्रैफालगर स्क्वायर की सभाओं में भाषण देते हुए उन्हें मैंने देखा है, और इन सब सभाओं में वह उन दिनों के जीते-जागते विषयों पर ही बोलती थीं। यहां पर एक मज़ेदार बात याद आती है कि उनका सबसे पहला भाषण 'महिलाओं की राजनीतिक परिस्थिति' पर था। जीवन-भर वह पुरुषों और महिलाओं के समान अधिकारों और कर्तव्यों के पक्ष में रहीं। आठवें दशक (पिछली अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के) के अन्तिम वर्षों में जब रूसी-तुर्की संघर्ष के कारण ग्रेट ब्रिटेन के भी युद्ध में कूद पड़ने की आशंकाएं थीं, तब वह उग्रवादियों (रैडिकलों) के साथ थीं जिन्होंने श्री ग्लैड्स्टन के साथ-साथ लार्ड बीकन्सफील्ड और उनके साथियों की अपराधी मूर्खता को रोकने की भरसक कोशिश की थी। लार्ड बीकन्सफील्ड और उनके साथी समझते थे कि वे जो कुछ कर रहे हैं उससे ब्रिटिश हितों की रक्षा हो रही है, जबकि उन्होंने जो कुछ किया उससे बाल्कन राज्यों के कन्धों पर कम-से-कम एक पीढ़ी के लिए, तुर्की साम्राज्य का जुआ मजबूती से लद गया। जिन लोगों ने इस नीति का विरोध किया था, बाद की घटनाओं ने उन्हें सही सिद्ध कर दिया है। श्रीमती बेसेन्ट और उनके साथ काम करने वाले यह अच्छी तरह समझते थे कि दक्षिण-पूर्वी यूरोप की समस्याएं न तो रूस के निरंकुश एकतन्त्र की विजय से और न तुर्की का कुशासन बने रहने से, हल होंगी। विश्व में शान्ति तो

तभी हो सकती है जब छोटे-छोटे राष्ट्रों के अपने ढंग से रहने और अपनी व्यवस्था आप करने के अधिकार को स्वीकार कर लिया जाए। उन्हीं दिनों उन्होंने भारत के हितों की भी आवाज उठाई थी। 1878 में उन्होंने अपनी 'इंगलैंड, भारत और अफगानिस्तान' नामक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसमें भारत की दुर्व्यवस्था तथा कुशासन और वहां तथा उसके पड़ोसी अफगानिस्तान में अपनाई जाने वाली लार्ड बीकन्सफील्ड की साम्राज्यवादी नीति की मूर्खता का भण्डा फोड़ा गया था। 1880-81 में श्रीमती बेसेन्ट उस संघर्ष में पूरे उत्साह से कूद पड़ी थीं, जो चार्ल्स ब्रैडला बाध्य-कारी प्रभावों से मुक्त निष्ठा-शपथ लेकर अपने अन्तर्विवेक को ठेस लगाए बिना संसद में भाग लेने के अधिकार के लिए लड़ रहे थे। उन्होंने आयरलैंड के 'होम रूल' आन्दोलन में भी प्रमुख भाग लिया, विशेषकर वहां की जनता के रहन-सहन की दशाओं को सुधारने के उद्देश्य से। बेरोजगारों और ईस्ट-एण्ड के गोदी कर्मचारियों के आन्दोलन की वह एक प्रमुख नेता थीं और उनके बीच उन्होंने न जाने कितने भाषण दिए। इन आन्दोलनों में उनकी लन्दन की पुलिस से लड़ाई होते-होते ही बची। उन्होंने अपनी 'आत्म-जीवनी' में बतलाया है कि 2 अगस्त 1881 को जब चार्ल्स ब्रैडला को घोर अपमानपूर्वक कॉमन सभा से बाहर निकाल दिया गया था, तो अगर स्वयं उन्होंने अपने प्रभाव से काम न किया होता तो वहां उपस्थित अपार भीड़ ने पैलेस यार्ड पर धावा बोल दिया होता; इसके अलावा, ट्रैफालगर स्क्वायर में, उस रविवार को, जिसे बाद में 'खूनी रविवार' कहा जाने लगा, जब वह जैसे जान हथेली पर रखकर, निहत्थी और अकेली, भाषण स्वतन्त्रता के अधिकार को सिद्ध करने का संकल्प करके पुलिस और सैनिक के घेरों के बीच से गई थीं। इन दोनों अवसरों पर मैं भीड़ में मौजूद था और जानता हूं कि उनके साहस और लगन के बारे में हम लोगों का क्या खयाल था।

"उन्होंने एक और काम किया था जिसके बहुत महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। उन दिनों, स्कूल बोर्ड में सार्वजनिक कार्यों के सार्वजनिक ठेकों में पुराने मन्चेस्टरी सिद्धान्त—सस्ती-से-सस्ती चीज बाजार में खरीदो और महंगी से महंगी में बेचो—पर अमल होता है। म्यूनिसिपल या सरकारी विभाग जिन मजदूरों को चाहे स्वयं चाहे किसी की मार्फत काम पर रखते थे, उनसे बड़ी-बड़ी देर तक काम कराया जाता था और वेतन बहुत ही कम दिया जाता था। जिन कारखानों से इन विभागों के अधिकारी माल खरीदते थे वहां काम करने की हालतें बहुत ही खराब थीं। श्रीमती बेसेन्ट ने इस प्रकार के सभी गलत व्यवहारों की जड़ पर चोट की और लन्दन स्कूल बोर्ड को

इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह अपने ठेकों की शर्तों में यह धारा जोड़ दे कि उनका जितना भी सामान पैदा किया जाएगा उसके उत्पादन में जहां तक वेतनदरों और काम के घण्टों का सम्बन्ध है, मजदूर यूनियनों की शर्तों का पूरा-पूरा पालन किया जाएगा। इस प्रस्ताव का प्रभाव तमाम मजदूर-जगत् में बिजली की तरह फैल गया। सभी जगह यह आन्दोलन चलने लगा कि सरकार और म्यूनिसिपल के सभी ठेकों में इस प्रकार के शर्त की धारा जोड़ दी जाए। यद्यपि हम लोग जितनी आशा करते थे उतनी सफलता तो नहीं मिली, लेकिन सरकार और देश की सभी बड़ी-बड़ी म्यूनिसिपेलटियों ने इस ढंग से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है जिससे यह चीज पक्की हो गई कि मजदूर यूनियन हो या न हो, वेतन की एक मानक दर और इसी प्रकार काम के एक मानक समय पर अमल किया जाएगा।

"और जब स्वतंत्रता और मुक्ति के आह्वान पर वह स्वाधीनता संग्राम में अपने को भारत के लोगों के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर खड़ी हो गई, और जब भारतीय जनता ने अपने नेतृत्व के लिए उनकी योग्यता और क्षमता पर विश्वास और भरोसा प्रकट कर के उन्हें राष्ट्रीय कांग्रेस का अध्यक्ष चुना, तो उन्होंने वही सब किया जो जिन्दगी भर करती आई थीं, अर्थात जिन्हें मित्र की आवश्यकता थी उनके पास आकर खड़ी हो गईं और अपना अनुभव, अपनी शक्ति, अपनी अद्भुत प्रभावशाली वाणी और कलम सब कुछ उनकी सेवा में लगा दिया जो अपने जीवन-संघर्ष से कुचले पड़े थे। 1885 में लन्दन में उनके घर पर रूस से निष्कासित लोगों की सहायतार्थ एक संस्था 'सोसायटी ऑफ फ्रेन्ड्स ऑफ रशिया' बनाने के लिए एक सभा हुई। सभा में क्रोपाटकिन और स्टेप्नियाक भी उपस्थित थे। बाद में, मेरा विश्वास है डॉ० स्पेन्स वॅट्सन के नेतृत्व में इसी सोसायटी से एक नई संस्था का उदय हुआ जिसका नाम था 'सोसायटी ऑफ फ्रेन्ड्स ऑफ रशियन फ्रीडम' (रूसी स्वतंत्रता के मित्रों की सोसायटी)। जब अन्त में रूसी जनता अपने लक्ष्य के बिलकुल निकट पहुंच गई तो अन्य बहुत से ब्रिटिश समाजवादियों की भांति श्रीमती बेसेन्ट ने भी विजय के नारे लगाए और जब आयरलैंड तथा भारत राष्ट्रों के रूप में विश्व के अन्य राष्ट्रों के साथ अपना स्थान ग्रहण करेंगे, तब भी वह विजय मनाएंगी, क्योंकि उनका स्वातंत्र्य-युद्ध विश्वव्यापी रहा है, सभी लोगों के लिए रहा है। जो लोग थियोसाफिकल सोसायटी के सदस्य हैं उन्हें उनके उस आह्वान पर अमल करना चाहिए और मुझे विश्वास है, वे करेंगे जिसमें उन्होंने कहा है कि स्वतंत्रता किसी एक जाति तक सीमित नहीं की जा सकती है बल्कि वह सबके

लिए स्वतंत्र होनी चाहिए। रंग-भेद से भ्रातृत्व के लिए कोई भेद नहीं होना चाहिए और भ्रातृत्व का अर्थ यह होना चाहिए कि मेरे भाई का कल्याण मेरा अपना कल्याण है।"

श्रीमती बेसेन्ट 1885 में फेबियन सोसायटी में शामिल हो गई और उसकी ओर से जगह-जगह भाषण देती थीं। इस भाषण-अभियान में सिडनी लेब, जार्ज बर्नार्ड शा, श्री और श्रीमती ब्लैण्ड और ग्रैहम वल्लास उनके विशेष सहयोगी थे। ये लोग कर्मचारियों के क्लबों में भाषण देते और राजनीतिक सुधारों की अपेक्षा सामाजिक सुधारों की ओर उनका ध्यान और शक्ति मोड़ने की कोशिश में उनके बीच स्वस्थ अर्थशास्त्र के विचारों का प्रचार-प्रसार करते थे। श्रीमती बेसेन्ट के शब्दों में, आज लन्दन के मजदूर वर्ग में समाजवाद की ओर जो इतना रुझान है, काफी हद तक उसका श्रेय वर्षों तक उनके बीच फेबियन सोसायटी के सदस्यों द्वारा की गई मेहनत और विशेषत: श्री विलियम मारिस की पवित्र, उदार और अद्भुत प्रतिभा को है। उसी वर्ष श्रीमती बेसेन्ट ने रूसी राजनीतिक बन्दियों के कष्टों की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने समाजवादी प्रवक्ताओं के सार्वजनिक भाषणों पर पुलिस अधिकारियों के विरोध के लिए विशुद्ध संघर्ष किया और बाद में धीरे-धीरे जनमत में परिवर्तन आ गया। लन्दन स्कूल बोर्ड की सदस्यता के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ता, श्री हर्बर्ट बरोज़ ने चुनाव लड़ा और काफी कड़े विरोध के बावजूद, वह काफी अधिक बहुमत से जीत गए। 1888 में श्रीमती बेसेन्ट स्वयं स्कूल बोर्ड के लिए चुन ली गईं। इतिहास में पहली बार, प्रचलित व्यवसाय प्रणाली और राष्ट्रीय धन के समाज के लाभार्थ उपयोग पर विचार करने के लिए एक बहुत बड़ा सम्मेलन आयोजित किया गया। एडवर्ड कार्पेन्टर, विलियम मारिस, सिडनी वेब और जान राबर्ट्स ऐसे लोगों ने इस संघर्ष में भाग लिया। जैसा स्वतंत्र विचार आन्दोलन के समय हुआ था, वैसे ही समाजवाद के बारे में भी श्रीमती बेसेन्ट की बड़ी कटु आलोचना की गई। उन्हें स्त्री के रूप में सेन्ट ऐथनेज़स[1] कहा गया। यह

---

1. सेन्ट ऐथनेज़स चौथी शताब्दी में सिकन्द्रिया के मठाधीश पादरी और एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त शास्त्री थे। इन्होंने बायबिल से भिन्न तत्कालीन ऐरियनवादी सृष्टि सिद्धान्त का डटकर विरोध किया था और इन्हें पांच बार देशनिकाला दिया गया था। अन्त में यह भाग कर रोम गए और पोप ने इनकी मदद की। वहीं इन्होंने कैथोलिक सिद्धान्तों को एक संगतिपूर्ण रूप देकर पूरे मत का प्रतिपादन किया।

—अनुवादक

भी कहा जाता था कि अधिकतर स्त्रियों की भांति, अर्थशास्त्र के बारे में अपने विचारों के लिए वह अपने अन्तिम (उस समय के) परिचित पुरुष पर आश्रित थीं। उन्होंने बड़े जोश के साथ अपने पक्ष का समर्थन किया और, बाद में, अपनी 'आत्म जीवनी' में इस समर्थन अर्थात् पैरवी के लिए स्वयं को ही दोषी ठहराया। "तब तक मुझ में वह आत्म-नियंत्रण नहीं आ पाया था जिससे दूसरों के निर्णयों को पक्षपात रहित ढंग से आंका जाता है, जो प्रशंसा और निन्दा पर ध्यान नहीं देता है। मैं तब तक यह नहीं सीख पाई थी कि बुराई का मुकाबला बुराई से, गुस्से का मुकाबला गुस्से से नहीं किया जाना चाहिए।"

1887 में उन्होने बेरोज़गारी के विरुद्ध और काम करने के लिए आठ घण्टे के दिन की मांग के पक्ष में जोरदार आन्दोलन चलाए और इन आन्दोलनों में वह तब तक बुरी तरह जुटी रहीं जब तक अपने जीवन के एक अन्य मानसिक संकट से उन्हें सामना नहीं करना पड़ा। काफी बाद में उन्होंने जो कुछ किया या जिन सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया, उन सबके पूर्व-संकेत रूप में उन्होंने एक 'चारिंग क्रास संसद' शुरू की जिसमें समाजवादी बहसें होती थीं। इस बीच 'नेशनल रिफार्मर' पत्र के लिए एक कठिन समस्या पैदा हो गई, उसकी सह-सम्पादिका होने के साथ-साथ उसके स्वामित्व में भी इनका सांझा था। पत्र की नीति अब विभाजित हो गई थी। समाजवाद के प्रश्न पर पत्र की सम्पादकीय नीति दोहरी हो गई थी। अतः अपनी जगह कायम रहने के बजाय उन्होंने सम्पादकीय पद से त्यागपत्र दे दिया। पत्र से उनके सम्बन्ध-विच्छेद करने पर श्री चार्ल्स ब्रैडला ने हार्दिक दुख प्रकट किया क्योंकि आखिर उन्होंने 'स्वतंत्र विचार' और उग्र आदर्शों के लिए बहुत बड़ी सेवा की थी। जैसा कि श्रीमती बेसेन्ट ने कहा है, जिस सम्बन्ध या दोस्ती के लिए 13 वर्ष पूर्व उन्हें एक बहुत भारी कीमत चुकानी पड़ी थी, उसका यह टूटना ऐसा था जैसे किसी ने बड़ी ज़ोर से रिंच घुमाकर हमें मरोड़ दिया हो, लेकिन क्या किया जाए, ऐसा होना ही था। इसके बाद वह पूरी तौर से समाजवाद के काम में जुट गईं। बाद में धीरे-धीरे ब्रैडला से भी उनके सम्बन्ध टूट गए। वह इस उपक्रम का बड़े मार्मिक ढंग से वर्णन करती हैं :

"मैंने जनमत को बड़ी तेजी से मुड़ते देखा और देखा कि जो उदारपंथी अभी तक दूर रहते थे वे अब धीरे-धीरे उनके निकट आने लगे और मैं जानती हूं कि वे मुझे एक भार और रोड़ा समझते थे और उनका विचार था कि अगर मैं ब्रैडला से अधिक घनिष्ठ बनकर न रहूं तो उनका मार्ग अधिक साफ और यात्रा अधिक सरल हो

जाएगी। इसलिए मैं अधिक-से-अधिक पीछे हटती गई, उनकी सभाओं में उनके साथ जाना छोड़ दिया; सार्वजनिक क्षेत्र में अब मुझसे उन्हें कोई लाभ नहीं रह गया था, क्योंकि मैं उनके लिए सहायता की बजाय एक बाधा बन गई थी।"

बेरोज़गार लोगों के जुलूस निकलने लगे। पुलिस की सख्ती के कारण कई जगह दंगे भी हुए और तब ट्रैफालगर स्क्वायर बन्द कर दिया गया। श्रीमती बेसेन्ट ने स्क्वायर तक एक जुलूस ले जाने का निश्चय किया और पुलिस द्वारा रोके जाने पर औपचारिक रूप से अपना विरोध प्रकट करने के बाद जुलूस भंग हो गया। इसके बाद जुलूस ज्योंही फिर चला पुलिस डंडे उठाए हुए उसकी ओर दौड़ी। श्रीमती बेसेन्ट, कनिंघम ग्रैहम और जानबर्न्स—जो बाद में सरकार के मंत्री भी हुए—पर हमला किया गया। बाद में घुड़सवार भी वहां पहुंच गए। कई लोग घायल हो गए और जैसा श्रीमती बेसेन्ट ने कहा है, "शान्तिप्रिय, कानून-पसन्द कर्मचारियों का, जिन्होंने दंगा करने का कभी स्वप्न भी नहीं देखा था, टांगें टूट गईं, हाथ टूट गए और उन्हें तरह तरह की अन्य चोटें आईं।" उस समय श्रीमती बेसेन्ट से नीति के मामले में मतभेद होते हुए भी, श्री ब्रैडला ने यह लिखा :

"इधर हाल में चूंकि अनेक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्नों पर अपनी बहादुर और ईमानदार सहयोगिनी से मेरे बहुत मतभेद रहे हैं और चूंकि उनके अपने पत्र के सम्पादकीय कार्यों के त्याग-पत्र दे देने के कारण इस मतभेद को और अधिक महत्त्व मिल गया है, इसलिए और भी आवश्यक हो जाता है कि मैं साफ-साफ कह दूं कि पुलिस के कब्जे में पड़े असहाय अभागे लोगों को कानूनी सहायता देने और उनकी जमानतें कराने के साथ-साथ जो उन्होंने रोज पुलिस थानों और कचहरियों की हाजिरी दी है और जहां एक ओर पुलिस वालों के कड़े व्यवहार और दूसरी ओर उनकी बदतमीजियों से बचने के लिए उन्हें जो-जो करना और सहना पड़ा है—इन सब में उन्होंने जो कुछ किया है, मैं उससे पूर्ण रूप से सहमत ही नहीं, उनका कृतज्ञ भी हूं।

तत्पश्चात जनता का असन्तोष बढ़ता गया और जब तक नीति में परिवर्तन नहीं हुआ, तब तक जनता द्वारा पुलिस का बहिष्कार चलता रहा।

अब हम 1888 पर आते हैं। इस समय तक श्री स्टेड और श्रीमती बेसेन्ट काफी निकट के मित्र हो गए थे—वह ईसाई थे और वह थीं नास्तिक, लेकिन दोनों के दिल, मानव के प्रति प्रेम और दमन के विरुद्ध घृणा से समान रूप से, खौल रहे थे। श्री स्टेड समाचारपत्र 'पाल माल गजट' के सम्पादक थे और उनके तथा रेवरेन्ड

एम० डी० हेडलाम के प्रभाव के कारण श्रीमती बेसेन्ट ने एक नई संस्था 'ब्रदर हुड' (भाईचारे) स्थापित करने के पक्ष में लेख लिखे, जिसमें ईश्वर की सेवा के बजाय मानव की सेवा को महत्त्व दिया जाना चाहिए। यहां पर हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि वह अचेतन रूप से अपने जीवन की अगली अवस्था की ओर बढ़ रही थीं। अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने 'लिंक' नाम से एक साप्ताहिक पत्र निकालने की योजना बनाई। उसका आदर्श था : "लोग मौन हैं। मैं मौन लोगों की वकालत करूंगी। मैं गूंगों के लिए बोलूंगी। मैं बड़ों से छोटों की और शक्तिशाली से दुर्बलों की बात कहूंगी।" हर सप्ताह गरीब दुखिया लोगों द्वारा भोगे अन्यायों को वाणी मिलती। श्रमिकों के चूसे जाने की निन्दा की जाती। महिला श्रमिकों को अत्यन्त कम वेतन दिए जाने का भंडा फोड़ किया जाता। गरीब जनता के लिए चलाए गए इस जिहाद के दौरान में श्रीमती बेसेन्ट ने गोदी (डाक) कर्मचारियों के लिए काम किया, बच्चों को मुफ्त भोजन और गन्दी बस्तियों में 'शहीद' होने वाले बच्चों के लिए बहुत काम किया। फेबियन सोसायटी की एक सभा में कुमारी ब्लैक ने एक भाषण दिया जिसमें उपभोक्ताओं का संगठन (कनज्यूमर्स लीग) बनाने पर जोर दिया गया। अनुचित वेतन और मजदूरों के वेतन से गैरकानूनी कटौतियों का विरोध किया। दियासलाई कर्मचारियों की एक यूनियन बनाई गई और श्रीमती बेसेन्ट, सिडनी वेब और अन्य लोग दियासलाई कर्मचारियों का जुलूस कामन सभा ले गए। लन्दन ट्रेड कौंसिल (लन्दन व्यापार परिषद) इस मामले में पंच होने पर राजी हो गई। वर्षों तक श्रीमती बेसेन्ट इस यूनियन की सचिव रहीं। काफी अर्से तक यह यूनियन इंगलैंड की तमाम महिला मजदूर यूनियनों में सब से मजबूत रही। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि मैडम ब्लैवट्स्की ने लन्दन में महिला कर्मचारियों का क्लब (वर्किंग वोमेन्स क्लब) स्थापित किया था।

अध्याय 3

थियोसाफी

लगभग इन्हीं दिनों श्रीमती बेसेन्ट के जीवन में एक बिलकुल नए अध्याय का श्रीगणेश हुआ। उनके मानसिक दृष्टिकोण और मनोवैज्ञानिक उपागम में एक जबर्दस्त परिवर्तन आ गया। 1886 से वह लगातार यह अनुभव कर रही थीं कि उनका जीवन-दर्शन पर्याप्त नहीं है। वह कहती हैं :

"मनोविज्ञान बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा था; सम्मोहन के प्रयोगों से मानवीय चेतना की ऐसी-ऐसी गुत्थियां प्रकाश में आ रही थीं जिनकी कभी किसी ने कोई खोज ही नहीं की थी बहुव्यक्तित्व की अजीब-अजीब पहेलियां सामने आ रही थीं और जिनमें सबसे आश्चर्यजनक तो थी मानसिक क्रियाओं की स्पष्ट तीव्रगति, जबकि मस्तिष्क की दशा, जिसे वास्तव में विचारों (चिंतन) का चालक होना चाहिए, पूर्णतः निश्चेतन हो गई। न जाने कितने ही ऐसे तथ्यों से मैं टकराई जिनकी कोशिश करने पर भी मैं व्याख्या नहीं कर सकी। मैंने चेतना के अनेक अस्पष्ट पक्षों—स्वप्न, भ्रान्ति, भ्रम, पागलपन—का अध्ययन किया। और अन्धकार में मुझे आशा की एक किरण दिखलाई दी—ए० पी० सिनेट की पुस्तक 'ओकल्ट वर्ल्ड' (गुह्य जगत) जिसके अद्भुत संकेतपूर्ण पत्रों में अतिप्राकृतिक घटनाओं का नहीं बल्कि नियमों पर आधारित प्रकृति का प्रतिपादन किया गया है—हां उसका क्षेत्र मेरी कल्पना से कहीं अधिक बड़ा था। अनुभव में आनेवाली घटनाओं को असन्दिग्ध लेकिन उसकी आध्यात्मिक व्याख्या को अविश्वसनीय पाकर मैंने स्वयं निजी तौर पर प्रयोग किए; अर्थात् मैंने अपने अध्ययन में अध्यात्मवाद को भी सम्मिलित कर लिया। इस अध्ययन से मैंने पाया कि अतीन्द्रिय दृष्टि, अतीन्द्रिय श्रवण, परचित्तज्ञान, ये सभी घटनाएं वास्तविक हैं। बाह्य जीवन की तमाम दौड़धूप के दौरान, जिसका पीछे के पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है, मेरे मन में ये प्रश्न बराबर उठते रहे थे और उनके उत्तर भी ढूंढे जा रहे थे। मैंने बहुत-सी किताबें पढ़ीं लेकिन उनमें ऐसा कुछ नहीं मिला जिससे मुझे सन्तोष मिलता।

उनमें बतलाई गई विभिन्न विधियों से मैंने प्रयोग किया और उनसे मुझे बड़े अजीब परिणाम मिले। अन्त में मैं स्वयं निश्चित हो गई कि कोई-न-कोई छिपी चीज़, छिपी शक्ति है अवश्य, और तय कर लिया कि जब तक उसे पा नहीं लूंगी तब तक तलाश करती रहूंगी और 1889 की बसन्त के आरम्भ तक तो मैंने अत्यन्त दृढ़ निश्चय कर लिया कि मुझे चाहे कड़े से कड़े खतरे का सामना क्यों न करना पड़े, मैं जो ढूंढ रही हूं वह पा कर रहूंगी। अन्त में, रोज़ की भांति एक दिन सूर्यास्त के बाद जीवन और मन (मनस) की पहेली हल करने की अति तीव्र किन्तु लगभग निराशापूर्ण उत्सुकता लिए अकेली बैठी चिन्तन कर रही थी कि मुझे एक ऐसी आवाज़ सुनाई दी जो बाद में मेरे लिए इस पृथ्वी पर सबसे पवित्र आवाज़ बननी थी, उसने मुझे आदेश दिया कि मैं साहस से काम लूं क्योंकि प्रकाश मिलने ही वाला है। इसके बाद एक पखवाड़ा (पक्ष) बीत गया और तब एक दिन श्री स्टेड ने मुझे दो बड़े-बड़े ग्रंथ दिए और कहा, "क्या आप इनकी समालोचना कर सकेंगी? मेरे यहां के युवक लोग इनसे कतराते हैं, लेकिन आप तो इन विषयों के लिए दीवानी रहती हैं, इनका जरूर कुछ न-कुछ उपयोग कर लेंगी।" मैंने किताबें ले लीं; वे एच० पी० ब्लैवट्स्की द्वारा लिखित 'द सीक्रेट डाक्ट्रीन' के दो खंड थे।

"मैं ज्यों-ज्यों उसे पढ़ती गई, त्यों-त्यों उसमें मेरी दिलचस्पी गहरी होती गई, लेकिन वह कितनी परिचित सी लगती थी; पहले से ही उसके निष्कर्ष जान लेने के लिए मेरा मन कैसी छलांगें मार रहा था, वह कितनी स्वाभाविक थी, उसमें कैसी संगति थी, कैसी सम्बद्धता थी, कितनी सूक्ष्म लेकिन फिर भी कितनी बुद्धिगम्य थी। मेरी आंखों को एकदम चकाचौंध कर देने वाले उसके प्रकाश में विभिन्न अलग-अलग तथ्य ऐसे दिख रहे थे जैसे वे सब किसी एक विशाल 'पूर्ण' के अंग हों, और मुझे ऐसा लगा कि मेरी तमाम पहेलियों, समस्याओं, जटिल से जटिल प्रश्नों का अन्त हो गया हो। एक तरह से तो जो प्रभाव मुझ पर पड़ा वह कुछ हद तक भ्रामक था क्योंकि इनका समाधान धीरे-धीरे बाद में होना था जब मस्तिष्क उन सब चीजों को धीरे-धीरे आत्मसात् कर ले जिन्हें तीव्र अन्त:प्रज्ञा ने सत्य समझ लिया था। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि वह प्रकाश था उसकी तेज जगमगाहट में मैंने यह जान लिया कि अभी तक की लम्बी थकाऊ खोज का अन्त हो गया था और असली 'सत्य' मिल गया।"

श्रीमती बेसेन्ट ने पुस्तक की समालोचना लिख दी और श्री स्टेड से कहा कि वह लेखिका का उनसे परिचय करा दें। वह मैडम ब्लैवट्स्की के यहां गईं; "एक मेज के सामने एक बड़ी सी कुर्सी पर एक आकृति, एक कंपकपाती हुई लेकिन प्रभावशाली आवाज, जिसने कहा, "मेरी प्रिय श्रीमती बेसेन्ट, मैं इतने दिनों से तुम से मिलना चाहती थी', और मैं, उनके हाथों में अपना हाथ पकड़ाए और इस जीवन में प्रथम बार उनके दर्शन करते हुए सीधे एच० पी० बी० (एच० पी० ब्लैवट्स्की) की आंखों में आंखें डाले हुए खड़ी थी।"

लेकिन थियोसाफिकल सोसायटी में शामिल होने से पहले श्रीमती बेसेन्ट ने उसके विरुद्ध संघर्ष करने की बड़ी कोशिश की। जनता के विरोध और द्वेष पर तो उन्होंने बड़ी हद तक लन्दन स्कूल बोर्ड में किए गए अपने महान कार्यों से विजय पा ली थी। अब तो उन्हें अपने को एक नए संघर्ष के बवंडर में झोंकना और दूसरों के उपहास का लक्ष्य बनवाना था।

उन्होंने स्वयं से प्रश्न किया: "क्या मुझे भौतिकवाद से मुंह मोड़ कर और सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार करके अपमान का सामना करना चाहिए कि मैं अभी तक गलत थी और बुद्धि के धोखे में आकर मैंने आत्मा की अवहेलना की? क्या मैं उस सेना को छोड़ दूं जो मेरे लिए बड़ी वीरता से लड़ी, उन मित्रों को छोड़ दूं जो सामाजिक बहिष्कार की तमाम कठोरताएं सहकर भी मेरे प्रति सच्चे रहे, मुझे प्यार करते रहे? और वह मेरा सबसे सच्चा और पक्का मित्र जिसके विश्वास को मैंने अपने समाजवाद से हिला दिया था—क्या उसे अपने साथ काम करने वाले, अपने कन्धे से कन्धा मिला कर लड़ने वाले एक ऐसे साथी को, सब भौतिकवादियों को छोड़ कर विरोधियों के खेमे में चले जाने की वेदना भुगतनी चाहिए, जिस पर उसे बड़ा गर्व था, जिसके लिए वह इतना उदार था? जब मैं उनसे कहूंगी कि मैं थियोसाफिस्ट हो गई हूं तो चार्ल्स ब्रैडला मुझे किस तरह से देखेंगे? संघर्ष बड़ा तीव्र और कठिन था, लेकिन उसमें पिछले दिनों के संताप अथवा कुंठा ऐसी कोई चीज नहीं थी क्योंकि (मेरे जैसा) सैनिक बहुत सी लड़ाइयां लड़ चुका था और बहुत से घाव सह-सह कर खूब पक्का हो चुका था। और इसलिए, यह भी एक घटना थी सो हो गई कि मैं थियो-साफिकल सोसायटी के बारे में पूछने के लिए फिर लैन्सडाउन रोड गई। एच० पी० ब्लैवट्स्की ने एक क्षण के लिए मुझे कुछ घूर कर देखा और बोलीं, "तुमने 'सोसायटी फॉर साइकिकल रिसर्च' (परामानसिकाय अनुसन्धान सोसायटी) की मेरे बारे में

रिपोर्ट देखी है ?" "नहीं, और जहां तक मैं जानती हूं मैंने उसके बारे में कभी सुना तक नहीं है।" "जाओ और उसे पढ़ो, और उसे पढ़ने के बाद अगर तुम आओगी—तो ठीक है।" और फिर इस विषय पर उन्होंने कुछ नहीं कहा बल्कि अनेक देशों में अपने अनुभवों के बारे में बातें करने लगीं।

"मैंने उस रिपोर्ट की एक प्रति मांग कर पढ़ी और फिर उसे दुहराया भी। शीघ्र ही मैंने यह जान लिया कि कितनी कमजोर बुनियाद पर इतनी बड़ी इमारत खड़ी की गई थी। निरन्तर वही कुछ कल्पित मान्यताएं जिनके आधार पर निष्कर्ष निकाले गए हैं, आरोपों की अविश्वसनीयता; और—सबसे गन्दी चीज़—ऐसे गलत स्रोत जिन से प्रमाण लिए गए हैं। मैडम ब्लैवट्स्की और उनके साथियों के विरुद्ध जो भी आरोप लगाए गए हैं वे सब के सब कूलाम बन्धुओं की सच्चाई पर निर्भर करते हैं जो कि स्वयं तथाकथित जालसाजियों में साझीदार थे। क्या मैं ये सब आरोप एक ऐसे स्पष्ट, निष्कपट और निडर स्वभाव के विरुद्ध लगा सकती थी जिसकी एक झलक मुझे देखने को मिल चुकी थी, ऐसी अभिमानी तेजस्वी सत्यता के विरुद्ध जो उन साफ नीली आंखों से मेरी ओर चमक रही थी जिनकी ईमानदारी और निडरता वैसी ही थी जैसी कि किसी पवित्र शिशु की आंखों में होती है ? क्या 'द सीक्रेट डाक्ट्रीन' की लेखिका ऐसी तुच्छ कपटी थी, ऐसे चालबाजों की सह-अपराधिनी थी, ऐसी नीच घृणित धोखेबाज थी, कूट-द्वारों और खिसकाऊ चोखटों वाली जादूगरनी थी ? इस तमाम बेहूदगी पर मुझे बड़ी जोर की हंसी आई और उस रिपोर्ट को एक पवित्र घृणा के साथ दूर फेंक दिया जैसा कि कोई भी वह ईमानदार व्यक्ति करता जो अपनों को मिलते ही पहचान जाता है और झूठ की नीचता और गन्दगी से बचने की कोशिश करता है। दूसरे ही दिन मैं 7, ड्यूक स्ट्रीट, ऐडेलफी में स्थित थियोसाफिकल पब्लिशिंग कम्पनी के कार्यालय गई जहां मैडम ब्लैवट्स्की की सबसे नई मित्र, काउन्टेस वाच्टमीस्टर काम कर रही थीं और थियोसाफिकल सोसायटी की फेलो (सभासद) के रूप में प्रवेश पाने के प्रार्थनापत्र पर हस्ताक्षर कर दिए।

"सनद मिल जाने पर लैन्सडाउन रोड गई जहां एच० पी० बी० अकेली ही थीं। मैं उनके निकट गई और झुक कर उन्हें चूमा लेकिन कहा कुछ नहीं। तुम सोसायटी में शामिल हो गई ? 'हां।' 'तुमने रिपोर्ट पढ़ी ?' 'हां।' 'अच्छा। मैं उनके आगे घुटने टेक कर बैठ गई और सीधे उनकी आंखों में आंखें डालकर उनके हाथों को अपने हाथों में दबा लिया।' मेरा उत्तर है कि क्या आप मुझे अपनी शिष्य स्वीकार

करेंगी और दुनिया भर के सामने आपको अपना गुरु घोषित करने का सम्मान क्या आप मुझे प्रदान करेंगी ?' उनका दृढ़ चेहरा नरम पड़ गया, और फिर उनकी आंखों में आंसुओं की बिल्कुल अपरिचित चमक फूट पड़ी, तब उन्होंने राजसी से भी अधिक प्रतिष्ठा के साथ अपना हाथ मेरे सिर पर रख दिया। 'तुम एक पवित्र स्त्री हो। ईश्वर तुम्हारा भला करें।'

"उस दिन, 10 फरवरी 1889 से 8 मई 1891 को उनके यह शरीर छोड़ने के दो साल साढ़े तीन महीने बाद—आज तक, उन पर से मेरी निष्ठा कभी डिगी नहीं, उन पर से मेरा विश्वास हिला नहीं। एक अत्यन्त उद्धत अंतःप्रज्ञा (intuition) के अन्तर्गत मैंने उन्हें अपनी निष्ठा अर्पित की थी : उनके साथ अत्यन्त निकट रहकर मैं बराबर दिन पर दिन उनके प्रति सच्ची साबित होती आई हूं, और मैं सदा उनके बारे में उसी श्रद्धा के साथ बोलती हूं जो एक शिष्य में अपने एक ऐसे गुरु के प्रति होनी चाहिए जिसने कभी उसका साथ न छोड़ा हो, उसी उत्कट कृतज्ञता के साथ बोलती हूं जो हमारे 'स्कूल' में उस व्यक्ति का स्वाभाविक इनाम है जो वहां का द्वार खोल कर रास्ता दिखलाता है।"

इस प्रकार वह थियोसाफी के क्षेत्र में पूरी तरह कूद पड़ीं और अपनी 'आत्मजीवनी' में कहती हैं :

"अपने व्यक्तिगत प्रयोग से मैं जानती हूं कि 'आत्मा' होती है और जिसे मैं 'मैं' कहती हूं वह मेरी आत्मा है न कि शरीर; और मैं जानती हूं कि यह जब चाहे इस शरीर को छोड़ सकती है, अशरीरी रूप में यह जीवित मानव गुरुओं के पास जा और उनसे सीख सकती है और फिर उनसे जो कुछ सीखती है उसे अपने साथ लाकर शारीरिक मस्तिष्क पर जमा सकती है, अस्ति अथवा अस्तित्व (being) के एक स्तर से दूसरे स्तर तक चेतना के स्थानान्तरण की प्रक्रिया बहुत धीमी होती है जिसे दौरान में शरीर और मस्तिष्क धीरे-धीरे अत्यन्त सूक्ष्म रूप में परस्पर-सम्बन्धित होते रहते हैं और सारता की दृष्टि से यह सूक्ष्म रूप 'आत्मा' का ही रूप होता है, चेतना जो कि मस्तिष्क पर बिलकुल ही निर्भर नहीं होती है, जब भौतिक द्रव्य के स्थूल रूपों में घिरी या बन्द रहती है तब की अपेक्षा उनसे पूर्णतः मुक्त रहने पर कहीं अधिक क्रियाशील होती है, एच० पी० ब्लैवट्स्की ने जिन मुनियों या सिद्धजनों की चर्चा की है वे वास्तव में हैं, इनके पास ऐसी शक्ति और ऐसा ज्ञान है जिसके आगे हमारा प्रकृति पर नियन्त्रण और इसके नियमों का ज्ञान बच्चों के खिलवाड़ से अधिक कुछ नहीं है। यह

बस और इससे कहीं अधिक मैंने सीखा है और मैं तो एक बहुत ही छोटी श्रेणी की छात्रा हूं, बल्कि यूं कहिए कि 'गुह्य पाठशाला' (ओकल्ट स्कूल) की शिशु कक्षा (Infant class) में हूं; अतः पहली छलांग तो सफल रही और अन्तःप्रज्ञा सही साबित हुई है। ज्ञान के जिस मार्ग पर मैं चल रही हूं वह उन सभी लोगों के लिए भी खुला है जो द्वार पर लगनेवाली चुंगी चुकाने को तैयार हों – और वह चुंगी है आध्यात्मिक सत्य के लिए सब-कुछ त्याग देने के लिए तैयार होना, और जितना कुछ सत्य अर्जित किया जाए उसका जरा-सा अंश भी अपने लिए न रखकर, सबका सब मानव-सेवा में लगा देने के लिए तैयार होना।"

'द सीक्रेट डाक्ट्रीन' की उनकी समालोचना और थियोसाफिकल सोसायटी में शामिल होने की उनकी सार्वजनिक घोषणा ने केवल धार्मिक वृत्तिवाले ईसाइयों में ही नहीं बल्कि, जैसा स्वाभाविक था और बड़े कड़े ढंग से, उन लोगों में भी आलोचना का एक तूफान पैदा कर दिया जिनके साथ मिलकर उन्होंने स्वतंत्र विचारों और नास्तिकता के पक्ष में काम किया था। चार्ल्स ब्रैडला ने उनके विषय में यह लिखा है :

"मुझे और भी अधिक खेद है क्योंकि मैं यह जानता हूं कि जिस किसी भी रास्ते को श्रीमती बेसेन्ट ठीक और सच्चा मान लेती हैं, उसके लिए वह कितनी लगन और ईमानदारी से काम करती हैं। मैं जानता हूं कि जिन किन्हीं विचारों के समर्थन की जिम्मेदारी वह अपने ऊपर ले लेंगी उनकी पैरवी वह हमेशा ईमानदारी से करेंगी और (इसीलिए) मुझे उनके थियोसाफिक विचारों की प्रगति और उनके सम्भव परिणामों के बारे में अत्यन्त गम्भीर आशंकाएं और अविश्वास हैं। इस पत्र की सम्पादकीय नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और वह हर प्रकार की थियोसाफी के विरुद्ध है। इस विषय पर मैं शान्त रहना ही अधिक ठीक समझता हूं क्योंकि श्रीमती बेसेन्ट ने जब समाजवाद ग्रहण किया था तब सार्वजनिक रूप से उनसे जो असहमति प्रकट की गई थी उससे दोनों को ही दुख हुआ था, लेकिन जब मैंने उनका लेख पढ़ा और थियोसाफिकल संस्था में उनके शामिल होने की सार्वजनिक घोषणा पढ़ी तो उन लोगों के प्रति जो मुझसे पथ-प्रदर्शन की उम्मीद रखते हैं, मेरी यह जिम्मेदारी हो जाती है कि बात साफ-साफ कह दी जाए।"

श्रीमती बेसेन्ट ने लिखा : "यहां पर मेरे लिए पूरे तौर पर तो यह बताना सम्भव नहीं है कि मैं थियोसाफिकल सोसायटी में क्यों शामिल हुई हूं, पर उस सोसायटी के तीन उद्देश्य हैं—

जाति या धर्म का भेद-भाव किए बिना विश्व-बन्धुत्व की स्थापना करना, आर्य साहित्य और दर्शन के अध्ययन को आगे बढ़ाना, और प्रकृति के अव्याख्यात नियमों तथा मनुष्य में छिपी किन्तु सम्भव भौतिक शक्तियों की खोजबीन करना। धार्मिक मतों के मामले में सदस्यों को पूरी स्वतंत्रता है। सोसायटी के प्रवर्तक लोग ईश्वर को व्यक्ति रूप में मानने से इन्कार करते हैं और विश्व की थियोसाफिक विचार-धारा के लिए सर्वेश्वरवाद का कुछ सूक्ष्म रूप सिखलाया जाता है, यद्यपि सोसायटी के सदस्यों के लिए इसका भी मानना अनिवार्य नहीं है। मैं यह बात छिपाना नहीं चाहती हूं कि मुझे ऐसा लगता है कि सर्वेश्वरवाद के इस रूप में कुछ समस्याओं के समाधान की आशा की जा सकती है, विशेषतः मनोविज्ञान की कुछ समस्याएं जिन पर 'आस्तिकतावाद' ने कोई ध्यान नहीं दिया है।"

बाद में, श्रीमती बेसेन्ट विशाल मजदूर सम्मेलन में भाग लेने पेरिस गईं और वहां से लौटकर लन्दन में 'मैं थियोसाफिस्ट क्यों हो गई?' पर एक सार्वजनिक भाषण को संक्षिप्त करके एक पुस्तिका का रूप दिया गया जिसका अन्त इन शब्दों में हुआ, "मेरे स्वाभिमान की आवश्यकता मुझे मजबूर करती है कि मैं जो कुछ सत्य समझती हूं वह कह दूं, चाहे मेरे इस भाषण से लोग खुश हों या नाखुश, उससे चाहे मुझे प्रशंसा मिले चाहे निन्दा। मेरे चाहे जो मित्र मुझसे अलग हो जाएं, चाहे जो मानवीय सम्बन्ध टूट जाएं, मैं सत्य के प्रति अपनी निष्ठा पर दाग़ नहीं लगने दूंगी। यह सत्य-निष्ठा चाहे मुझे सुनसान जंगल में ले जाकर डाल दे, लेकिन मैं इसका साथ नहीं छोड़ूंगी, यह चाहे मुझे सारे प्रेम से वंचित कर दे, लेकिन मैं इसी के पीछे-पीछे चलूंगी, यह चाहे मुझे मार भी डाले, फिर भी मैं इस पर विश्वास किए जाऊंगी और अपनी कब्र 'ऊपर लगे पत्थर पर सिर्फ यही लिखा चाहूंगी,' इसने सत्य का अनुकरण करने का प्रयत्न किया।" उनके थियोसाफिस्ट हो जाने पर बड़ा वादविवाद छिड़ गया। ऐसे कठिन समय में कुछ गुमनाम मित्रों ने डेढ़ सौ पौंड प्रति वर्ष की सहायता की। इन सब चीजों के साथ-साथ उन्होंने अपने समाजवादी काम और लन्दन स्कूल बोर्ड का काम बराबर जारी रखा। उन्होंने दक्षिण लन्दन के फर उद्योग के कर्मचारियों की एक यूनियन संगठित की। ट्रामों और बसों में काम करने वालों के काम के घण्टे कम कराने का आन्दोलन शुरू किया और इसी बीच में, रेलों, ट्रामों और बसों में सफर करते हुए भी वह अपना अध्ययन करती रहती थीं। मतभेदों के बावजूद श्री चार्ल्स ब्रैडला और श्रीमती बेसेन्ट की निकट मित्रता बराबर बनी रही। ब्रैडला 1889 में अचानक सख्त

बीमार पड़ गए। वह राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने के लिए भारत आए जहां उन्हें बड़े उत्साह से (ब्रिटिश) संसद में 'भारत के सदस्य' के नाम से घोषित किया गया।

1890 में मैडम ब्लैवट्स्की ने जिन्हें हाल ही में सौ पौंड का एक दान मिला था, पूर्व लन्दन में काम करने वाली महिलाओं के लिए एक क्लब स्थापित करने का निश्चय किया। उन्होंने स्वयं इस क्लब का उद्घाटन किया और उसे 'अल्प आय पाने वाले श्रमिकों के कष्टों के निवारण' के लिए समर्पित किया। 1890 में ही, 'ब्लैवट्स्की जाल' के नाम से यूरोप में थियोसाफिकल सोसायटी का प्रधान कार्यालय खोला गया और उसमें बिलकुल शुरू में काम करने वालों में बर्टरेम कीटले, काउन्टेस वाच्टमीस्टर, जार्ज मीड, क्लाड राइट, वाल्टर ओल्ड, एमिली किस्लिंगबरी, आइज़ाबेल कूपर ओकले, कुमारी कूपर, हर्बर्ट बरोज और श्रीमती बेसेन्ट थे। 1891 में ब्रैडला का देहान्त हो गया, इस सम्बन्ध में श्रीमती बेसेन्ट ने अपनी 'आत्मजीवनी' में यह लिखा है : "और इस प्रकार एक तूफान से गुज़रकर मुझे शान्ति मिली, इस वाह्य जीवन के किसी स्थिर सागर की शान्ति नहीं जिसे कोई भी शक्तिशाली आत्मा नहीं चाहती है, बल्कि एक आन्तरिक शान्ति जिसमें इन बाह्य समस्याओं को कोई गड़बड़ी पैदा करने का अवसर ही न मिले—वह शान्ति जो शाश्वत में होती है अस्थायी में नहीं, जो जीवन की छिछलाइयों में नहीं, गहराइयों में होती है। यही वह शान्ति थी जिसके बल पर मैं 1891 की उस भयंकर बसन्त को पारकर गई जब कि मृत्यु ने चार्ल्स ब्रैडला पर कुठाराघात कर दिया और एच० पी० ब्लैवट्स्की के लिए विश्रामगृह के द्वार खोल दिए। अनेक और भारी चिन्ताएं तथा जिम्मेदारियां आ जाने पर भी इसी शान्ति की बदौलत मैंने सब-कुछ सहन कर लिया, हर प्रयत्न उसे और मजबूत कर देता है, हर परीक्षा उसे और अधिक स्थिर तथा स्वच्छ बना देती है, हर प्रहार से उसमें एक नई चमक आ जाती है। शंका की जगह शांत विश्वास ने ले ली है और व्याकुल भय की मजबूत सुरक्षा ने।"

एच०पी० ब्लैवट्स्की के साथ-साथ थियोसाफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल ओल्काट ने अपनी डायरी में लिखा है :

"4 सितम्बर को लन्दन पहुंचने पर एच० पी० बी० ने मेरा स्नेहपूर्वक स्वागत किया। मैंने उनके मकान में श्रीमती बेसेन्ट को रहते पाया जो कि हाल ही में धर्म-निरपेक्षतावादियों को छोड़ कर बोरिया-बिस्तर सहित हमारे खेमे में आ गई थीं। उन्हीं

दिनों एक थियोसाफिकल वक्ता, लेखिका, सम्पादिका और अध्यापिका के रूप में उनके भावी शानदार जीवन का आरम्भ हुआ था, यह कैसा अजीब होता कि वह कभी भी थियोसाफिस्ट के अतिरिक्त कुछ और हो गई होतीं।...मैंने उन्हें कैसा पाया वह मेरी डायरी के 5 सितम्बर के पन्ने पर लिखा है, उसी दिन शाम को मैं पहली बार उनसे मिला था : "मैं देखता हूं कि श्रीमती बेसेन्ट प्राकृतिक स्वभाव से ही थियोसाफिस्ट हैं, रहस्यात्मक के प्रति उनके स्वभाव का आकर्षण होने के कारण हम लोगों से उनका अनिवार्य लगाव है। सिनेट के बाद से हमें अब तक जितने लोग मिले हैं उनमें यह सबसे महत्त्वपूर्ण है...।"

अब यहां पर अच्छा होगा कि हम उन थियोसाफिकल सिद्धान्तों पर विचार करलें जिनकी श्रीमती बेसेन्ट ने मैडम ब्लैवट्स्की की 'द सीक्रेट डाक्ट्रीन' की अपनी समालोचना में चर्चा की थी और जिन्होंने उनके मन और हृदय को मोह लिया था और जो बाद में उनकी मानसिक तथा आध्यात्मिक सामग्री के मुख्य अंश बन गए। पुस्तक का आरम्भ मिस्र, फारस, बैबीलोन, चीन, यहूदियों तथा भारतीयों के पवित्र साहित्य से छांट-छांट कर प्राचीन एवं अद्भुत ज्ञान और विद्याओं से किया गया है। इसका मुख्य विषय प्रतीकवाद और ब्रह्माण्ड का विकास है। पुस्तक में यह दावा किया गया है कि यह (विकास) 'पूर्व (अथवा पूरब) के बुद्धिमानों,' कुछ अर्हतों की वंशागति और गुणधर्म है और मैडम ब्लैवट्स्की इन्हीं अर्हतों की शिष्या होने का दावा करती थीं।

अति संक्षेप में इस विचार को यों कहा जा सकता है कि जिसे संस्कृत में 'सत्' और लेटिन में 'एन्स' या अंग्रेजी में 'बीइंग' कहते हैं, उससे चित् (स्पिरिट) और पुद्गल (मैटर) का विकास होता है :, चित् धीरे-धीरे पुद्गल के भीतर नीचे उतरता हुआ तमाम प्रकार के रूपों को विकसित करता जाता है—ऐसा वह अनुभवों की तलाश में करता है और बिना ऐसा किए उसे अनुभव नहीं हो सकते। अन्त में जब वह पुद्गल में बिलकुल नीचे पहुंच जाता है तो फिर ऊपर की ओर चढ़ना शुरू करता है और खनिज पदार्थों, वनस्पतियों और पशु-पक्षियों के रूपों से होकर तब तक विकसित होता जाता है जब तक मनुष्य में आत्म-चेतना नहीं प्राप्त कर लेता, इसके पश्चात, मनुष्य में उसके स्वभाव के अनुसार वह (चित्) विकास के साथ-साथ उसे (मनुष्य को) आध्यात्मिक बनाता हुआ ऊपर चढ़ता है और तब तक चढ़ता जाता है जब तक उसका स्थूल शरीर और पाश्विक भाववेग छंट-छंटकर पूरी तरह से (उस से) अलग नहीं हो

जाते हैं और इस प्रकार पूर्णतः शुद्ध होकर उसके उच्चतर सिद्धान्त उसके स्वयं के भीतर स्थित दैवी चित् की चिनगारी से बिलकुल मिलकर, एकाकार होकर, अपनी लम्बी तीर्थ यात्रा के दौरान में अर्जित तमाम सफलताओं तथा लाभों सहित अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच जाते हैं—और यह लक्ष्य है वह परम अस्तित्व जहां से बिलकुल आरम्भ में वे आए थे। इस पूरे उपक्रम में बहुमुखी अवतारों की धारणा निहित है। अन्तिम एवं पूर्ण विश्रांति की प्राप्ति के लिए मात्र सर्वोच्च शिखर तक पहुंचने के लिए रास्ते में बहुत से सोपानों पर चढ़ते हुए प्रत्येक मानव चित् के लिए अलग-अलग बहुमुखी अवतार होते हैं। जब एक निश्चित ऊंचाई पर यह चित् पहुंच जाएगा तभी और केवल तभी उसे पीछे (अतीत) की याद आएगी और तब वह शुद्ध चित् पीछे मुड़कर अपनी चढ़ाई की पिछली अवस्थाओं को साफ-साफ देख सकता है।

इस समय अपने सप्तस्तरीय स्वभाव—भौतिक शरीर, प्राणमूलकता, सूक्ष्म-शरीर, पशु-आत्मा, मानवीय अथवा विवेकी आत्मा, मानव चित् और दैवी चित्—के साथ जिस रूप में मनुष्य है, उसकी पूरी की पूरी सृष्टि एकदम नहीं हुई थी। 'प्रथम प्रजाति' अर्थात् मूलवंश की सृष्टि अपने ही पदार्थ से श्वास निकाल कर उन्होंने की जिन्होंने हमारी यह दुनिया बनाई; इस प्रथम प्रजाति के प्राणी आध्यात्मिक, आकाशीय, अलिंगी थे और इनमें बुद्धि की मात्रा बहुत मामूली थी। दूसरी प्रजाति पहली से मुकुलकायन की क्रिया द्वारा पैदा की गई; इसके प्राणी प्रथम प्रजाति वालों की अपेक्षा अधिक स्थूल थे और लिंगी भी। तीसरी प्रजाति अण्डज थी और इसमें लिंग का पृथक्करण धीरे-धीरे हुआ, शुरू वाले प्रजाति उभयलिंगी थे और बाद वाले स्पष्ट रूप से स्त्री-पुरुष; इनका बौद्धिक विकास अब भी बहुत कम था क्योंकि अभी चित् की पुद्गल पूरी तरह से ढ़क नहीं सका था जैसा कि आत्म-चेतन चिन्तन के लिए आवश्यक है। इस प्रजाति के बाद वाले प्राणी ही एटलांटिस में रहने वाले तथा लेमूरियन लोग थे; इन्हीं लोगों से खगोलशास्त्र और लिंगों पर आधारित धर्मों का उदय हुआ था। और इन्हीं लोगों में से चौथी प्रजाति का जन्म हुआ जिसमें एक से एक विशालकाय और 'प्रसिद्ध लोग' पैदा हुए और इन्हीं में से हमें 'शुद्ध मानव काल' की शुरुआत मिलती है। (इस पुस्तक में हमें जो 'तीसरे नेत्र' का विशेष उल्लेख मिलता है उसकी शीर्षग्रन्थि के सम्बन्ध में विज्ञान की आधुनिक कल्पनाओं से बड़ी आश्चर्यजनक पुष्टि होती है।) अब यहां से सभ्यता और बड़े-बड़े शैल नगरों के निर्माण का श्रीगणेश होता है। इसी अवस्था से मनुष्य अपना शारीरिक तथा बौद्धिक

विकास शुरू करता है लेकिन अपनी वित्तीय आर आध्यात्मिक शक्ति खोकर; ईस्टर आइलैण्ड वैमियन में मिली बड़ी-बड़ी मूर्तियों और अन्य अवशेषों तथा किसार्ट में मिले मनुष्यों के विशाल अस्थिपंजरों और बड़े-बड़े मकानों से पता चलता है कि उनके बनानेवालों का आकार कितना बड़ा होगा। पांचवीं प्रजाति के आते-आते हम ऐतिहासिक काल में प्रवेश करते हैं और आज की मनुष्य जातियां इसी प्रजाति की हैं। पाश्चात्य विज्ञान की दृष्टि से यह सब बहुत दूर की, मात्र कल्पना लगती है; फिर भी कोई सतर्क पाठक उन आश्चर्यजनक समानताओं की उपेक्षा नहीं कर सकता है जो मानव विकास के इस गुह्य दृष्टिकोण और हमारी इस दुनिया की तमाम जीवित वस्तुओं के विकास के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बीच मिलती हैं और यह वैज्ञानिक विकास वही है जिसकी रूपरेखा आज भी प्रत्येक मानव प्राणी के डिम्ब से ले कर पूर्ण मनुष्य की अवस्था तक के व्यक्तिगत विकास को समझाने के लिए दिखाई जाती है।

अर्हत हमारे प्राचीन रहस्यों के अभिकावक हैं और, ऐसा विश्वास किया जाता है कि, वे तिब्बत के कुछ मठों में रहते हैं; श्रीमती बेसेन्ट ने स्वयं यह दावा भी किया है कि उन्होंने तिब्बत जाकर कूटहूमि, मौर्य्य तथा अन्य महात्माओं से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किया था।

थियोसाफिकल सोसायटी में डब्लू० क्यू० जज, ए० पी० सिनेट और कर्नल ओल्काट ऐसे भी थे जिनका दावा था कि वे हिमालय में रहने वाले इन मुनि-महात्माओं से बराबर सम्पर्क रखते थे। और सी० डब्लू लेडबीटर ऐसे लोगों में से एक थे जिनका कहना था कि उन्हें, स्वप्न में तथा चलते-फिरते काल्पनिक दृष्टि में और अनेक अन्य गुह्य विधियों से इन महात्माओं तथा उनके उपदेशों का साक्षात्कार हुआ। श्रीमती बेसेन्ट के थियोसाफिस्ट होने के बाद के उनके बहुत से साथी और स्वयं मैडम ब्लैवट्स्की ने अतीन्द्रिय दृष्टि, मानसिक संक्रमण तथा अन्य आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों की, स्वय या मैडम कूलाम ऐसे माध्यमों के द्वारा, परीक्षा की और विकसित भी किया जिन पर बाद में काफी वाद-विवाद और संघर्ष छिड़े थे। अमेरिका और ब्रिटेन की विभिन्न पत्रिकाओं और मद्रास की क्रिश्चियन कालेज मैगज़ीन में बहुत से ईसाई पादरियों द्वारा चलाए गए वाद-विवाद के विवरणों में जाने से यहां पर कोई लाभ नहीं होगा। उस बहस में यह कहा गया था कि थियोसाफिकल सोसायटी के कुछ सदस्यों के साथ-साथ मैडम कूलाम और उनके साथियों को शिमला, मद्रास और अन्य जगहों पर हुई कुछ तथाकथित घटनाओं के घटित होने और कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितियां पैदा

करने के पीछे की गई निरी चालबाज़ी के पीछे हाथ था अर्थात् वे लोग मिले हुए थे उनके वक्तव्यों में सच्चाई नहीं थी। थियोसाफिस्टों ने इसे गलत बताया और यह झगड़ा वर्षों तक चलता रहा। अब यहां पर इतना ही कहना काफी होगा कि यद्यपि श्रीमती बेसेन्ट ने 'ऐलम्योंन' और 'मैन ह्वेन्स एण्ड ह्विदर' (मनुष्य, कहां से और कहां को) नामक पुस्तकों के लिखने में लेडबीटर से सहयोग किया था लेकिन उन्होंने स्वयं अतिबुद्धिमान या सिद्ध होने का दावा कभी नहीं किया और न उन्होंने अति-प्राकृतिक ढंग की किसी प्रकट घटना अथवा स्थिति की अपने ऊपर जिम्मेदारी ही ली।

उपर्युक्त पुस्तकों में यह दावा किया गया है कि वे विभिन्न व्यक्तियों के पूर्वजन्मों और पिछले मानव इतिहास की क्षणिक गुह्य झलकियों की अक्षरशः प्रतिलिपि हैं।

श्रीमती बेसेन्ट ने अपनी सैद्धान्तिक निष्ठा का सर्वप्रथम परिवर्तन 1889 में थियोसाफी के प्रति किया था। 1890 में ए० पी० सिनेट के लन्दन स्थित निवास-स्थान में उनकी सी० डब्लू० लेडबीटर से भेंट हुई। 1891 में ही वह ब्लैवट्स्की लाज की अध्यक्ष भी हो गई। कर्नल ओल्काट का लाज में स्वागत करते हुए उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग किया था: "गुरुओं द्वारा थियोसाफिकल सोसायटी की आजीवन अध्यक्ष चुनी जाने, उनके पैग़म्बर एच० पी० बी० के निकट सम्पर्क में रहने और आपस में हर सम्भव सम्बन्ध से बंधे होने के कारण, हम न तो कोई ऐसा शब्द बोल सकते हैं और न कोई ऐसा विचार कर सकते हैं, जिससे उस निष्ठा में कोई भी वृद्धि हो सके, जिसका अनुभव हर सदस्य को हमारे अध्यक्ष के प्रति होना चाहिए।" कर्नल ओल्काट और डब्लू० क्यू० जज ने साथ मिल कर 1873 से अमेरिका में आध्यात्मिक अनुसन्धान का काम करती रहने वाली मैडम ब्लैवट्स्की ने भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर 1879 में थियोसाफिकल सोसायटी संगठित की थी। सोसायटी के उद्देश्य थे: (1) विश्व-भ्रातृत्व के लिए उसके आधार की स्थापना; (2) आर्य तथा अन्य पूर्वी साहित्य, धर्मों तथा विज्ञानों के अध्ययन को बढ़ावा देना; और (3) मनुष्य के भीतर छिपी शक्तियों तथा प्रकृति के अज्ञान-अपरिचित नियमों की छान-बीन करना। मैडम ब्लैवट्स्की का 1891 में देहान्त हो गया और श्रीमती बेसेन्ट ने 1892 में भारतीय थियोसाफिस्टों से सबसे पहली बार वायदा किया कि वह भारत आएंगीं। उन दिनों भारत में सोसायटी के अध्यक्ष-संस्थापक कर्नल ओल्काट ही नहीं, उसके महासचिव बर्टरेम कीटले और श्री एज भी रह रहे थे। 1893 में सोसायटी के उपाध्यक्ष श्री डब्लू० क्यू० जज के साथ-

साथ श्रीमती बेसेन्ट भी शिकागो में होने वाले सर्व-धर्म सम्मेलन में सोसायटी का प्रतिनिधित्व करने के लिए नियुक्त की गई। उस सम्मेलन में श्रीमती बेसेन्ट और प्रोफेसर ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, दोनों बोले थे और कहा जाता है कि श्रीमती बेसेन्ट ने वक्तृत्व का एक असाधारण उदाहरण पेश किया था।

●

अध्याय 4

भारत में आगमन

कर्नल ओल्काट के मित्र और एक महान ज्योतिषी, श्री ऐलन ल्यो के कथनानुसार श्रीमती बेसेन्ट ने 1893 की 16 नवम्बर के दिन कैन्डी में दो जगहों पर भाषण देकर अपना भारत भ्रमण प्रारम्भ किया था। इसके बाद उन्होंने ट्यूटीकोरेन, बंगलोर, बेजवाड़ा और अनेक अन्य स्थानों पर भी भाषण दिए। भाषणों के इस दौर का अन्त हुआ अडयार में जहां एक महासम्मेलन में उन्होंने 'द बिल्डिंग ऑफ़ कासमास' (ब्रह्माण्ड की रचना) पर भाषण दिया। बाद में यही अडयार थियोसाफिकल सोसायटी का प्रधान केन्द्र बन गया। 1894 में श्रीमती बेसेन्ट के भाषणों के मुख्य केन्द्र थे, बनारस (वाराणसी), आगरा, लाहौर और बम्बई। जब वह अडयार में थीं तभी उन्होंने पिछड़ी जातियों के लिए एक स्कूल स्थापित करने के लिए कोशिशें शुरू कर दी थीं और इसी के साथ-साथ राष्ट्रीय शिक्षा के अभियान में जुट गईं। अडयार के इस स्कूल का नाम था 'ओल्काट पंचम स्कूल'। मद्रास के पाचायप्पा कालेज की एक महती सभा में बोलते हुए उन्होंने भारतीय शिक्षा-प्रणाली में सुधार करने की जोरदार अपील की। थियोसाफिस्ट होकर भारत आने के तुरन्त बाद ही उन्होंने भारत के अनेक नेताओं से सम्पर्क स्थापित किया। महात्मा गांधी ने इनके विषय में लिखा है :—

"जब मैं 1888 और उसके बाद में भी लन्दन में पढ़ रहा था, तभी अपने समान अन्य अनेक व्यक्तियों की तरह मैं भी ब्रैडला और बेसेन्ट का प्रशंसक हो गया था। एक दिन जब मैंने समाचार-पत्रों में पढ़ा कि ब्लैवट्स्की की प्रेरणा से ऐनी बेसेन्ट थियोसाफिस्ट हो गई हैं तो मैं अत्यन्त प्रसन्न और उत्तेजित हो उठा। उन दिनों मैं निरा बालक ही था, एक प्रकार से मुझे जानने वाला वहां कोई भी न था। अगर मुझे मैडम ब्लैवट्स्की और उनकी विशिष्ट शिष्या डॉ० बेसेन्ट के कपड़ों का एक छोर भी छूने का अवसर मिल जाता तो भी मैं अपने को धन्य समझता। लेकिन, यद्यपि मेरे कुछ मित्रगण मुझे ब्लैवट्स्की लॉज ले भी गए फिर भी मैं इतना भी नहीं कर सका। बाद

में जब डॉ० बेसेन्ट भारत आईं और पूरे देश पर छा गईं तब मैं उनके निकट सम्पर्क में आया और राजनैतिक मतभेदों के बावजूद उनके प्रति मेरे मन में जो आदर तथा श्रद्धा पहले थी उसमें कभी कोई अन्तर नहीं आया।"

पं० जवाहरलाल नेहरू ने जिनकी उनसे पहली बार 1901 में भेंट हुई, उनके बारे में कहा है : "मेरे जीवन की अनेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं में एक घटना उस दिन घटित हुई जिस दिन मैं ऐनी बेसेन्ट से मिला था। तब मैं केवल बारह वर्ष का था और उनके व्यक्तित्व, जिसकी पराक्रमी गतिविधियों के बारे में पहले से ही तरह-तरह की गाथाएं फैली हुई थीं, और उनकी वक्तृत्व शक्ति ने मुझे बुरी तरह से प्रभावित कर दिया। जैसी कि एक अल्पायु बालक में किसी के प्रति प्रशंसा और निष्ठा की भावना होना स्वाभाविक है, मैं उन्हें टकटकी लगाकर देखने लगा और उनके साथ-साथ, आगे पीछे, दाएं-बाएं चलने लगा। इसके बाद वर्षों बीत गए मेरी उनसे भेंट नहीं हुई; लेकिन उस महान असाधारण व्यक्तित्व के लिए मेरी प्रशंसा बराबर बनी रही। वर्षों बाद राजनीतिक क्षेत्र में जब मैं फिर उनके निकट सम्पर्क में आया तो इस बार भी मैं उनका पूर्ण प्रशंसक बन गया।

"यह मेरा बड़ा सौभाग्य था कि मैं उन्हें जानता था और कुछ हद तक मैंने उनके साथ काम भी किया—और ऐसा क्यों न होता, वह उस युग की एक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति थीं। भारत को अपनी आत्मा पाने के योग्य बनाने के लिए उन्होंने जो कुछ किया उसके लिए इस देश पर तो विशेष रूप से उनके प्रति कृतज्ञता का ऋण रहेगा।"

प्रोफेसर चक्रवर्ती की तरह, महान संस्कृतज्ञ तथा विद्वान, डॉ० भगवानदास भी उनके निकट सहयोगियों में थे। उनके बारे में उनका कहना है : "1901 में बनारस में जब उनका मकान, शान्ति कुंज, बन गया तो उन्होंने उसकी जमीन पर स्थित एक पुराने घोर जीर्ण मन्दिर को फिर से बनवाने और उसका उद्धार करने की इच्छा प्रकट की। यद्यपि उनका अपना धर्म थियोसाफी था, जिसमें सभी मत एवं धर्म समान रूप से सम्मिलित हैं, फिर भी अपने रहन-सहन का वह यथासम्भव भारतीयकरण करना चाहती थीं ताकि भारतीयों के हृदय तक वह पहुंच सकें और यही कारण था कि वह उस मन्दिर का पुनर्निर्माण तथा उद्धार करना चाहती थीं। इस सम्बन्ध में बनारस के, और इस नाते पूरे भारत के, श्रेष्ठ पण्डितों की एक सभा बुलाई गई। सभा में भाग लेने के लिए जब सुप्रसिद्ध पण्डित गंगाधर शास्त्री पधारे और उन्हें अतिथियों का स्वागत करती

हुई देखा तो (संस्कृत में) बोल उठे : 'पूर्ण रूपेण श्वेत सरस्वती', जैसा कि संस्कृति की आराध्य देवी को कहा जाता है।" डॉ० भगवानदास ने बनारस में तथा अडयार में अपना निवासस्थान बनाने से पहले करीब दस साल तक भारत के विभिन्न भागों के किए गए लम्बे-लम्बे दौरों में भी, उनके वैयक्तिक सहायक का काम किया था। 1893 के बाद उन्होंने अपना अधिक से अधिक समय भारत में ही व्यतीत किया और भारतीयों पर उनका जो गहरा प्रभाव पड़ा वह अत्यन्त असाधारण और युगप्रवर्तक था। उनके एक प्रमुख अनुयायी तथा प्रशंसक, फिट्ज़कुंज ने 1905 में अपने ऊपर पड़े उनके प्रभाव के बारे में कहा है : "आज से भगवद्गीता पर उनके भाषण शुरू हो गए। उपस्थित श्रोताओं में पुरुषों का भारी बहुमत था यद्यपि दक्षिण भारत में पर्दे की प्रथा नहीं है। पूरा हाल श्रोताओं से खचाखच भरा था जो कि कुछ उम्मीद से वहां आए थे। मीलों दूर से बूढ़े और जवान अपने ही समर्थन में श्रीमती बेसेन्ट का भाषण सुनने आए थे। जहां तक वक्ता का सम्बन्ध है वह, मेरा विचार है, अपनी योग्यता और प्रभाव के लगभग शिखर पर थीं, लेकिन भाषण की वह निरुद्योग और कभी-कभी धोखे में डाल देने वाली गति, वह खुला जोर का और कभी अत्यन्त सुरीला स्वर, कभी एक-एक शब्द अलग-अलग और कभी अनेक वाक्यों का एक तेज झोंका, कभी कुछ पल विश्राम और फिर दर्जनों शब्दों की एक हवाई दौड़ से बना एक अविस्मरणीय वाक्य—मेरे लिए यह सब एक बिलकुल नया अनुभव था। इस प्रकार की महान कला के कितने ही अक्षरशः सत्य समाचार क्यों न छपे हों, लेकिन उनका जो प्रभाव पाठकों पर पड़ता है वह स्वयं अपने कानों से सुनने पर श्रोताओं पर पड़ने वाले प्रभाव से कहीं कम होता है। फिर भी उनसे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि वक्ता की साहित्यिक शैली बनावटी नहीं थी, केवल दिखावे के लिए उसे सजाया नहीं गया था, बल्कि, इसके विपरीत, उसकी प्रवृत्ति पूर्णतया निर्दोष थी। कुछ थोड़े से सरल-साधारण विचारों को अत्यन्त संवेगात्मक ढंग से श्रोताओं को हृदयंगम कराया गया था; वक्ता के आचरण में नीरसता अथवा निःसत्वता नाम के लिए भी नहीं थी। हजारों की भीड़ को उनकी आवाज साफ सुनाई देती थी। फिर भी आपस में निजी बातचीत करते समय कभी-कभी तो उनकी आवाज इतनी धीमी हो जाती थी कि सुनने में भी कठिनाई होती थी। आमतौर पर भाषण के आरम्भ में उनकी आवाज़ सिर्फ इतनी ऊंची होती है कि सुनाई भर दे जाए और इसके परिणामस्वरूप, यह कहा जा सकता है कि श्रोतागण शान्त होकर ध्यान से उनकी बात सुनने लग जाते। लेकिन जब उनकी वाणी अपनी

पूरे प्रवाह में आ जाती तो फिर उनका एक-एक शब्द ही नहीं बल्कि शब्दों के अन्त की श्वास भी पीछे से पीछे बैठे निमग्न श्रोता को भी अच्छी तरह सुनाई दे जाती थी ।"

श्री कुंज ने ऊपर जो कुछ कहा है उसकी अन्य बहुतों के अनुभवों से पुष्टि की जा सकती है । योग्य विद्वान तथा चतुर संसद सदस्य श्री सी० रामलिंग रेड्डी ने श्रीमती बेसेन्ट के बारे में लिखा है : "श्रीमती बेसेन्ट सदा ही एक विश्वनेत्री बनी रहीं जबकि उनकी अधेड़ उम्र के बाद भी पैदा होने वाले न जाने कितने लोग केवल बुढ़ा ही नहीं गए बल्कि समाप्त भी हो गए । उनका समस्त जीवन जैसा भी उन्होंने पाया उस सत्य के प्रति पूर्ण निष्ठा का एक आदर्श प्रतिमान है । सरकार और परम्परा के दासों के इस देश की भूमि पर उन्होंने आत्म सम्मान के बीज बोए । कुछ लोगों ने उन पर हमारे अन्ध विश्वासों को तर्कसंगत लगने के योग्य बनाने का आरोप लगाया है, लेकिन क्या उनके बुद्धिवाद की सराहना के लिए यह काफी नहीं है, उन्होंने अपना जीवन एक शंकालु और क्रान्तिकारी के रूप में प्रारम्भ किया था । एक जगह उन्होंने अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से बतलाया है कि एक बार आक्सफोर्ड आन्दोलन के एक नेता के पास वह कैसे गई थीं और उसे उन्होने कितना रूखा और उदासीन पाया । वह स्वयं किसी से भी, मेरे ऐसे पथभ्रष्ट से भी, कभी भी रूखेपन या उदासीनता से पेश नहीं आई । थियोसाफी तो उनका धर्म ही था, लेकिन मानवीयता तो उनके व्यक्तित्व का भावात्मक पक्ष था । जीवन के अन्तिम दिनों में थियोसाफी के सिद्धान्तों और रहस्यों में उन्हें जो अपनी मनचाही शान्ति और इहलोक तथा परलोक के बीच समाधान की प्राप्ति हुई और जिसके कारण वह एक समरस जीवन बिता सकीं, उसके लिए उन्होंने अपने प्राकृतिक स्वभाव को झुठलाया नहीं था, उससे मुंह नहीं मोड़ा था, बल्कि उसके अधिक से अधिक अनुरूप चलकर उसे उसी के उत्कृष्ट न्यायसंगत उत्कर्ष तक पहुंचा दिया ।

ऐसी कौन सी दिशा थी जिसमें श्रीमती बेसेन्ट महान नहीं थीं ? ऐसा कौन-सा खेत था जिसकी जुताई और कटाई में वह अगुआ न रही हों ? उन्होंने जीवन और संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में, सभी जातियों और सभी देशों में एक नई जान ला दी थी । शिक्षा, सामाजिक सुधार यहां तक कि निषिद्ध यौन विषय, मजदूर तथा अन्य उग्र आन्दोलन, पराधीन देशों का आत्मसम्मान, पूर्ण स्वतन्त्र राज्यों तथा राष्ट्रों के रूप में राजनैतिक विकास, परस्पर लड़ते रहने वाले राष्ट्रों की आपसी समझ-बूझ और

सहानुभूति के आधार पर संगठन, एक सहकारी विश्व-व्यवस्था—दुनिया-भर के सम्पूर्ण मानवीय प्रयासों में क्या किसी ने भी श्रीमती बेसेन्ट से अधिक दूरदर्शिता और संचालन-प्रेरणा का परिचय दिया है ? वह समय के साथ-साथ बढ़ीं, उससे आगे भी निकल गईं और फिर भी बढ़ती ही गईं। इसमें कोई शक नहीं कि वह एक दिन वृद्ध भी हुईं, लेकिन उनके लिए हर वर्ष एक नई आयु के समान था; अवयस्कता का कोई प्रश्न ही नहीं था। युद्ध, झूठ और खून-खराबे से लथपथ मानवता, तू तो ऐसी मां की सन्तान होने के योग्य ही नहीं थी। और यही कारण है कि हमें छोड़ कर वह चली गईं—अमर, निष्कलंक, निर्दोष।"

श्री सी० आर० रेड्डी की इस राय का एक विशेष महत्त्व है क्योंकि श्रीमती बेसेन्ट के धार्मिक दृष्टिकोण से वह सहमत नहीं थे। इसी प्रकार उन दिनों के उनके कामों के बारे में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने, जिनका कहना है कि अपनी युवावस्था में वह श्रीमती बेसेन्ट से कुछ दूर-दूर ही रहा करते थे, लिखा है : "जिन्होंने भारत के निर्माण में कोई ठोस योगदान किया है उनमें श्रीमती बेसेन्ट का स्थान मूर्धन्य लोगों में है। उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं धर्म की महत्ता पर विश्वास पैदा करने में देश के युवकों की बड़ी सहायता की। ईसाई धर्म तथा विज्ञान ने हिन्दू धर्म पर बड़े सख्त और सफल प्रहार किए हैं। इन प्रहारों को विफल करने और इन मामलों में भारत में आत्मविश्वास बनाए रखने में श्रीमती बेसेन्ट ने जो सेवा की है उसके कारण वह (हमारी) कृतज्ञतापूर्ण प्रशंसा की अधिकारी हैं। महात्मा गांधी की तरह, श्रीमती बेसेन्ट को भी किसी क्षेत्र विशेष में सीमित नहीं किया जा सकता है। सभी चीजें एक-दूसरे से परस्पर सम्बन्धित होती हैं, और धर्म, राजनीति, कला, उद्योग, शिक्षा—ये सभी एक ही सत्य की अनेक परस्पर-सम्बन्धित शाखाएं हैं। यही कारण है कि श्रीमती बेसेन्ट ने राजनीति में भी उतना ही अधिक भाग लिया जितना हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान आन्दोलन में। भारतीय स्वतन्त्रता के लिए उनका योगदान वास्तव में महान है। लोकमान्य तिलक, गांधीजी और अन्य भारतीय नेता उनके समकालीन थे।"

यह भी एक अत्यन्त महत्त्व की बात थी कि थियोसाफिस्ट होने से बहुत पहले से ही श्रीमती बेसेन्ट भारत के प्रति आकर्षित थीं। 1885 में ही, उन्होंने 'यंग फोक्स लायब्रेरी' में बच्चों के लिए कुछ कहानियां लिखी थीं और सबसे पहली कहानी 'गंगा एण्ड द रिवर मेड' में उन्होंने भारत का वर्णन किया था। जिन दिनों श्रीमती

वेसेन्ट ने थियोसाफिस्ट सम्प्रदाय में प्रवेश किया था उन दिनों थियोसाफिस्ट साहित्य की सिर्फ इनी गिनी किताबें थीं जैसे ईशइज अन्वील्ड, द सीक्रेट डाक्ट्रीन और इसाटरिक बुद्धिज्म। लेकिन जैसा कि जीनराजदास का कहना है, "थियोसाफिस्ट हो जाने पर डॉ० वेसेन्ट ने कुछ ऐसे काम किए जो और कोई नहीं कर सकता था। उन्होंने इन पुस्तकों से थियोसाफी के मूल सत्य लेकर उन्हें सार्वजनिक भाषणों के रूप में पेश किया जिनमें सुन्दर भाषा के साथ-साथ आदर्शवाद भी कूट-कूटकर भरा था। इस बात के लिए उनमें एक विलक्षण गुण था, उन तमाम अद्भुत सत्यों को वह तरह-तरह के सुन्दर प्रसंगों और प्रकरणों में पिरो देती थीं। हमने उन्हें सदा ही थियोसाफी आन्दोलन के काम को एक ऐसा रूप देते हुए देखा जिसका पहले कोई अस्तित्व ही नहीं था। मेरे मन में इस समय विशेष रूप से उनका वह भाषण है जो मैं अमेरिका में होने के कारण सुन नहीं सका था। वह सिटी टेम्पल में दिया गया था और उसका शीर्षक था 'सांसारिक लोगों के लिए आध्यात्मिक जीवन'। उसका वाह्य रूप (उसकी भाषा) अत्युत्तम था और एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय को उससे अधिक कलात्मक ढंग से पेश नहीं किया जा सकता था। कोई भी उस भाषण को सामने रखकर उसके खण्ड-खण्ड का विश्लेषण करके देख सकता है कि पूरे विषय को किस प्रकार एक पूर्ण सुसंगत रूप में पेश किया गया है। उन्होंने 'वाह्य न्यायालय' के शीर्षक से भी कई भाषण दिए थे। उनकी एक अन्य व्याख्यान माला का विषय था 'बदलती दुनिया'। इन सभी भाषणों का रूप अत्यन्त कलात्मक है और वादवाली (बदलती दुनिया) व्याख्यान माला में एक आदर्श संयुक्त विश्व की रचना की योजना दी गई है।

"मेरे विचार से डॉ० वेसेन्ट को पेशेवर ढंग की एक वक्ता की अपेक्षा एक कलाकार कहना अधिक उचित होगा क्योंकि वह (अपने भाषणों में) किसी भी विषय का पूरा-पूरा सर्वेक्षण नहीं करती थीं बल्कि जैसा कि कोई चित्रकार एक लैण्डस्केप का चित्र बनाते समय करता है, वह भी कोई एक दृष्टिकोण चुन लेती हैं और फिर उस विषय को उसी दृष्टिकोण से पेश करती हैं। वह हमें ज्ञान अवश्य देती हैं लेकिन एक विशिष्ट, उत्कृष्ट प्रसंग के बीच में सजाकर। उनकी बहुत सी रचनाओं में जो रचना शायद सबसे अधिक काल तक जीवित रहेगी, वह है उनकी पुस्तक 'ए स्टडी इन कान्शसनेस' (चेतना का एक उदय मन) क्योंकि इसमें बड़ी गहरी दार्शनिक अभिव्यक्ति है जो आगे आने वाली बहुत सी पीढ़ियों को आकर्षित करती रहेगी।"

श्रीमती बेसेन्ट के बाद थियोसाफिकल सोसायटी के अध्यक्ष श्री सी० जिनराजदास के कथनानुसार विशेप लेडबीटर में अतीन्द्रिय दृष्टि का विकास धीरे-धीरे हुआ था, लेकिन श्रीमती बेसेन्ट को 1896 में यह शक्ति लगभग रातोंरात मिल गई थी।

श्रीमती बेसेन्ट ने भारत में कदम रखते ही देश के पुनरुत्थान के लिए परिश्रम करना आरम्भ कर दिया था। श्री सी० जिनराजदास के शब्दों में "अब हम उनके उस कार्य के बारे में विचार करेंगे जिसे 'भारत का पुनर्जीवन' कहते हैं। 1893 में जिस क्षण श्रीमती बेसेन्ट ने भारत में पैर रखा, उसी क्षण उन्होंने इस काम का बीड़ा उठा लिया। उन्होंने एक नए प्रकार की शिक्षा का उपदेश दिया और थियोसाफिकल लॉजों पर नए स्कूल खोलने तथा हिन्दू बालक-बालिकाओं को पढ़ाते समय भारतीय आदर्शों के मूल स्वर को ध्यान में रखने पर जोर दिया। 1893 में यहां आने से पहले ही वह भारत को अपनी मातृभूमि कहती थीं। 1892 में लिखे उनके एक पत्र में यह वाक्य मिलता है।"

वीमेन्स इण्डियन ऐसोसिएशन (महिलाओं का भारतीय संघ) की स्थापना में उनकी प्रमुख प्रेरणा थी और वह उसकी सर्वप्रथम अध्यक्ष थीं। श्रीमती बेसेन्ट और उनकी सहयोगियों के प्रभाव से ही कन्याकुमारी से हिमालय तक और पेशावर से असम के सिलहट तक सारे देश में यह ऐसोसिएशन फैल गया। शिक्षा, उद्योग, राजनीति और अनेक सुधार एवं उत्थान कार्यों में महिलाओं की प्रगति का काम बढ़ाने के लिए बनी इस महिला संस्था की शाखाओं का देशभर में एक जाल-सा बिछ गया। इस प्रकार देशसेवा के लिए महिलाओं को इस सुदृढ़ता से एक सूत्र में बांध दिया गया कि जब साउथ बरो आयोग भारत में आया तो श्रीमती बेसेन्ट, श्रीमती नायडू और वीमेन्स इण्डियन ऐसोसिएशन की कुछ अन्य सदस्याओं के एक प्रतिनिधि मण्डल ने तत्कालीन भारत सचिव श्री मान्टेगू से भेंट की और उन्हें एक ज्ञापन दिया जिसमें यह मांग की गई कि पुरुषों के समान महिलाओं को वोट देने का अधिकार दिया जाए। इस आन्दोलन में श्रीमती कजिन्स और ऐसोसिएशन की मन्त्री, श्रीमती सी० जिनराजदास ने बड़ा सक्रिय भाग लिया। ये दोनों महिलाएं थियोसाफिस्ट थीं और श्रीमती बेसेन्ट के साथ ही अपने देश से भारत आई थीं। तभी से श्रीमती कजिन्स और उनके पति, डॉ० कजिन्स, इस देश को अपना देश मानकर जीवन के सभी क्षेत्रों में भारतीय जनता की सेवा कर रहे थे।

हमें यह न भूलना चाहिए कि दूसरे देशों के स्त्री-पुरुषों को हिन्दू दर्शन एवं संस्कृति के पक्ष में प्रभावित करने में ऐनी बेसेन्ट का प्रमुख हाथ था और वह भी उस समय जब स्वयं भारत की नई पीढ़ी अपने ही धर्म एवं संस्कृति से अपरिचित हो रही थी और वेद तथा उपनिषद् की भाषा तो दूर रही, अपनी मातृभाषा सीखना भी भूलने लगी थी। ऐनी बेसेन्ट ने गीता का सरल और शुद्ध अंग्रेजी में अनुवाद ही नहीं किया बल्कि छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं के लिए आर्य श्रेष्ठता की कहानियों की छोटी-छोटी पुस्तिकाएं भी संकलित कीं। उन्होंने धर्म और नैतिकता की एक सार्वदेशिक पाठ्य पुस्तक भी तैयार की जो सभी श्रेष्ठ धर्मों के मौलिक सत्यों का एक संक्षिप्त संग्रह है। मुख्यतः इनके और स्वामी विवेकानन्द के भी प्रयत्नों का ही फल था कि पश्चिमी देशों को भारत के उस मूल्यवान आध्यात्मिक भण्डार का कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ जो शताब्दियों के अन्धकार और विस्मृति से ढका पड़ा था। भारतीय दर्शन के उस छिपे हुए भण्डार को वही प्रकाश में लाईं और साथ-साथ में उसे जगमगा भी दिया।

भारत में श्रीमती बेसेन्ट ने सबसे पहले जिन कामों का बीड़ा उठाया उनमें से एक था अपने अनेक भारतीय साथियों के सहयोग तथा सहायता से—जिनमें कुछ ही लोग थियोसाफिस्ट थे—1898 में बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलिज स्थापित करना। उनका विश्वास था कि भारत में शिक्षा का संचालन भारतीयों के हाथ में होना चाहिए और इन्हीं लोगों को शैक्षिक संस्थाएं खोलने और चलाने की आर्थिक तथा प्रशासनिक जिम्मेदारियां लेनी चाहिए। उनका आग्रह था कि भारतीय शिक्षा का मूल निर्देशक सिद्धान्त देशभक्ति का दृष्टिकोण होना चाहिए, उसे धर्म के मूल तत्व (सार) से भिन्न नहीं होना चाहिए और उसे पाश्चात्य विज्ञान तथा शिल्पतन्त्र का अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहिए। इस विषय में उन्होंने कुछ मौलिक मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक विचार विकसित किए थे और उनका आग्रह था कि कम-से-कम शुल्क लेकर अधिक-से-अधिक छात्रों की आवश्यकताएं पूरी की जाएं। उनका इस पर भी जोर था कि बौद्धिक, शारीरिक एवं भावनात्मक विकास के लिए युवक-युवतियों को ब्रह्मचर्य अवश्य पालन करना चाहिए। सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज हाई स्कूल में विवाहित छात्रों का प्रवेश नहीं हो सकता था। शिक्षा का आधार-स्तम्भ धर्म था और इसके साथ-साथ इस संस्था के युवकों को सामाजिक कार्य का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। इसके अतिरिक्त, 'सन्स ऐण्ड डाटर्स ऑफ़ इण्डिया' (भारत के पुत्र और

पुत्रियां), स्काउट्स ऐण्ड गार्ड्स ऑफ़ आनर इस प्रकार की संस्थाएं खोली गईं। उनके इर्दगिर्द केवल भारत के ही नहीं, पश्चिमी देशों के भी बहुत से ऐसे लोग जमा रहते थे जिन्हें केवल पारिश्रमिक के बदले या इसके बिना भी शिक्षण-कार्य और उनके आदर्शों से प्रेम था। समय-समय पर इस संस्था के काम में हुए घाटों को श्रीमती बेसेन्ट स्वयं अपनी जेब से पूरा करती थीं। श्री जी० एस० आरुण्डेल, श्री सी० एस० त्रिलोककर, डॉ० भगवानदास और अन्य शिक्षाविद उनके निकट सहयोगी थे और कुछ ही दिनों बाद उन्होंने एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय की योजना बनाई, जो महान देशभक्त एवं वक्ता पंडित मदनमोहन मालवीय, मद्रास के श्री एस० सुब्रमण्य अय्यर, बम्बई के श्री नारायण चन्दावरकर, कलकत्ता के श्री आशुतोष मुकर्जी, लाहौर के श्री पी० सी० चटर्जी, बांकीपुर (पटना) से श्री एस० सिन्हा, हैदराबाद (दक्षिण) के श्री अकबर हैदरी, बनारस शहर के श्री गोविन्ददास, रंगून (बर्मा) के श्री बी० कावसजी, पूना के श्री एन० डी० खंडेलवाल, कपूरथला के श्री प्रतापसिंह, कलकत्ता के श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त, श्रीलंका के श्री डी० बी० जयतिलक, बांकीपुर (पटना) के सय्यद हसन इमाम, बांकीपुर (पटना) के श्री मजहरुल हक, दिल्ली के लाला सुल्तानसिंह, लखनऊ के श्री गंगाप्रसाद वर्मा और ग्वालियर के श्री श्यामसुन्दर लाल ऐसे शीर्षस्थ प्रभावशाली व्यक्तियों के एक न्यासी मण्डल (बोर्ड ऑफ़ ट्रस्टीज) की सहायता से 1910 में चलाई गई। एक नए ढंग के विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए वायसराय द्वारा समर्थित एक याचिका इंगलैण्ड के महामहिम राजा के सम्मुख पेश की गई। यहां पर इस याचिका का पूरे का पूरा आमुख देना उचित होगा क्योंकि इससे श्रीमती बेसेन्ट के दृष्टिकोण और उद्देश्यों का परिचय मिल जाता है :

1. "कुछ समय से आपके इन याचकों ने भारत में एक ऐसे नए विश्वविद्यालय की आवश्यकता महसूस की है और उसकी स्थापना करना चाहते हैं जिसका कार्य क्षेत्र वर्तमान विश्वविद्यालयों से भिन्न ढंग का हो और उसकी कुछ अपनी विशेषताएं हों, इसके अतिरिक्त अनेक अवसरों पर साम्राज्यिक सरकार द्वारा की गई घोषणाओं के अनुसार, आपके याचकों का विश्वास है कि उच्च शिक्षा की अधिक-से-अधिक जिम्मेदारी गैरसरकारी तथा स्वेच्छिक प्रयासों पर आधारित होनी चाहिए और शैक्षिक मामलों में भारतीय पहल को सार्थक बनाने तथा इस प्रकार के प्रयत्नों को एकरूपता देने के लिए इस प्रकार के प्रयासों पर आधारित एक विश्वविद्यालय की स्थापना परम आवश्यक है।

2. "प्रस्तावित विश्वविद्यालय की सबसे खास विशेषता इस बात में होगी कि वह ऐसे किसी महाविद्यालय को अपने मे सम्बद्ध नहीं करेगा जिसमें दी जाने वाली शिक्षा में धर्म और नैतिकता को एक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त होगा। हिन्दू, बौद्ध, पारसी, ईसाई और इस्लाम—सभी को समान रूप से मान कर वह विभिन्न धर्मों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा, लेकिन किसी विशुद्ध धर्मनिरपेक्ष संस्था को अपने से सम्बद्ध नहीं करेगा। इस प्रकार वह भारत की शिक्षा पद्धति की एक कमी को पूरा करेगा और ऐसे तमाम तत्वों को आपस में मिला देगा जिनके अनुसार युवकों को सम्मान और सद्गुणों की शिक्षा दी जाना पूर्ण शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है। वह अच्छे नागरिक पैदा करने का एक केन्द्र (नर्सरी) होगा न कि ज्ञान के एक निश्चित स्तर के प्रमाण पत्र ढालने वाली टकसाल।

3. "दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होगी कि भारतीय दर्शन, इतिहास और साहित्य को सर्वप्रथम स्थान दिया जाएगा और इन विषयों तथा भारत की प्रतिष्ठित भाषाओं को संस्कृति का माध्यम बनाया जाएगा। पाश्चात्य दर्शन का पर्याप्त अध्ययन तो होगा, लेकिन प्रधानता पूर्वी दर्शन को ही मिलेगी और पाश्चात्य ज्ञान का प्रयोग विकासशील राष्ट्रीय जीवन को विकृत अथवा अपंग करने के लिए नहीं बल्कि समृद्ध करने के लिए किया जाएगा।

4. "तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होगी कि शारीरिक श्रम वाले कामों तथा विभिन्न शिल्पों, कृषि एवं औद्योगिक व्यापारिक निर्माण के उपयोग में आनेवाले विज्ञान, और राष्ट्रीय समृद्धि की वृद्धि में सहायक पाश्चात्य ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए अपने यहां के अनेक पुराने लेकिन अब मिट रहे उद्योग-धन्धों को फिर से जीवित तथा विकसित करने के लिए भारतीय कलाओं तथा दस्तकारी के प्रशिक्षण की ओर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

5. "आपके याचकों की इच्छा है कि आरम्भ में भारत का (यह प्रस्तावित) विश्वविद्यालय भी भारत के सरकारी विश्वविद्यालयों की भांति केवल परीक्षाओं का संचालन करेगा और बनारस के सुस्थापित सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज ने प्रस्तावित विश्वविद्यालय को परीक्षाओं और अपने कार्यालय-सम्बन्धी कार्यों के लिए उसका भवन इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी है, फिर भी उन्हें विश्वास है कि बाद में विश्वविद्यालय एक शिक्षण संस्था का रूप ले लेगा और विश्वविद्यालय भी जीवन का असली आदर्श प्राप्त कर लेगा जिसका भारत में अभी नामोनिशान भी नहीं है, और इसके

लिए इन लोगों (याचकों) ने उन अधिकारों के अन्तर्गत तैयारी कर ली है जिनकी मांग की गई है।

6. "आपके याचकों को विश्वास है कि प्रस्तावित योजना से भारत में शिक्षा के हितों को बहुत बढ़ावा मिलेगा और उन्हें यह भी विश्वास है कि यदि महामहिम ठीक समझें और उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो भी महामहिम को उचित लगे उन अधिकारों से युक्त 'भारत का विश्वविद्यालय' के नाम से भारत मे एक विश्वविद्यालय की स्थापना और समावेशन के लिए अपना शाही प्रयत्न जारी कर दें तो प्रस्तावित योजना को बड़ा बल मिलेगा।

7. "अत: आपके याचक अत्यन्त विनम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं कि महामहिम अपने शाही परमाधिकार का प्रयोग करके 'भारत का विश्वविद्यालय' स्थापित करने और उसे प्रयत्न के साथ संलग्न मसौदे में विस्तार से दिए गए अधिकार, शक्तियां और उपबन्ध या इनमें से जिन्हें महामहिम उचित समझें, प्रदान करने की कृपा करें।"

शिक्षा सम्बन्धी प्रयासों के साथ श्रीमती बेसेन्ट अपने इर्द-गिर्द की राजनीतिक घटनाओं पर भी सोचने-विचारने लगी थीं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पूर्व ऐसे कई आन्दोलन चल रहे थे जिनसे यह संकेत मिलता था कि देश में एक नए जीवन की लहर उठ रही है, लेकिन उनमें अब वैसी तेजी और गतिशीलता नहीं रह गई थी जैसी कि शुरू में थी। ब्रह्म समाज और कलकत्ता का ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसिएशन ऐसे ही आन्दोलन थे।

पत्रकारिता के क्षेत्र में, 'बंगाली' में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और 'इण्डियन मिरर' में नरेन्द्रनाथ सेन राष्ट्रीय आकांक्षाओं की आवाज बुलन्द कर रहे थे। पंजाब में, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज स्थापित किया था। बम्बई में 'इन्दु प्रकाश' वही काम कर रहा था जो कलकत्ता में 'इण्डियन मिरर'। बम्बई ने दादाभाई नौरोजी, फीरोज शाह मेहता, न्यायमूर्ति रानडे (जिन्होंने अपने इतिहास सम्बन्धी अध्ययन और रचनाओं से भारतीय देशभक्त को एक नई गति प्रदान की), गोखले, डी० ई० वाचा और अन्य महान नेताओं को पैदा किया। पूना में राष्ट्रीय शिक्षा विकसित करने के लिए देशभक्तिपूर्ण आत्मत्याग के प्रयास स्वरूप फर्गूसन कॉलिज खोला गया था। पूना में सार्वजनिक सभा और मद्रास में महाजन सभा राजनीतिक हलचलों के केन्द्र थे। समाचारपत्र 'हिन्दू' देशभक्ति के विचारों को स्वर दे रहा था।

थियोसाफिकल सोसायटी 1879 में अपना प्रधान कार्यालय इंगलैण्ड से भारत ले आई थी। सोसायटी के जो नेतागण उसके वार्षिक सम्मेलनों में एकत्र होते थे, वे देश में देशभक्ति की भावनाएं उभारने में भी योग देते थे। आई० सी० एस० के एक प्रमुख सदस्य ए० ओ० ह्यूम सरकार के सचिव के पद से अवकाश प्राप्त करके थियोसाफिकल सोसायटी में शामिल हो गए थे और बाद में उन्होंने अपने को भारतीय राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के काम में लगा दिया। इंगलैण्ड में, हेनरी फासेट, जान ब्राइट और चार्ल्स ब्रैडला (जो 'भारत के लिए संसद सदस्य' के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे) ऐसे लोग भारत के हितों की आवाज़ उठा रहे थे। श्रीमती बेसेन्ट ने बंगाल में 'फीनिक्स' नाम के एक समाचार पत्र के प्रकाशन को प्रोत्साहित किया। उसके प्रथम सम्पादक थे ए० पी० सिनेट जिन्होंने कुछ ही दिन पहले 'द पायोनियर' के सम्पादक पद से अवकाश प्राप्त किया था। लेकिन आर्थिक सुविधाओं के अभाव में वह समाचार पत्र चल नहीं सका। उन्हीं दिनों, दिसम्बर 1884 में अडयार में हुए सम्मेलन के तुरन्त बाद मद्रास में कुछ लोग एकत्र हुए और वहीं एक राष्ट्रीय आन्दोलन के विचार का आरम्भ हुआ। 1885 में पूना में बंगाल के प्रसिद्ध वकील श्री डब्लू० सी० बनर्जी की अध्यक्षता में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सर्वप्रथम अधिवेशन हुआ। कांग्रेस ने विधान परिषदों के विस्तार और उनमें निर्वाचित सदस्यों को शामिल करने की मांग की। इस मौके पर ए० ओ० ह्यूम ने आन्दोलन का स्वागत करते हुए कुछ राजनीतिक पुस्तिकाएं (पैम्फलेट) प्रकाशित की थीं। भारतीय राजनीतिज्ञों के कई शिष्ट मण्डल इंगलैण्ड गए और वहां काम बढ़ाने के लिए एक समिति नियुक्त की गई जिसके सदस्यों में ए० ओ० ह्यूम, सर विलियम वेडरबर्न और सर हेनरी काटन थे। इंगलैण्ड में 'इण्डिया' नामक एक समाचारपत्र शुरू किया गया जिसके प्रथम सम्पादक थे गार्डन हेवर्ट जो बाद में इंगलैण्ड के प्रधान न्यायाधीश हो गए। ब्रिटिश लोकसभा (हाउज़ ऑफ कामन्स) में डब्लू० एस० केन, सैमुएल स्मिथ, चार्ल्स ब्रैडला, हर्बर्ट राबर्ट्स और अनेक अन्य सदस्य भारत के समर्थक थे। जैसा पहले बताया जा चुका है, ब्रैडला ने 1889 की बम्बई कांग्रेस में भाग लिया था और सर विलियम वेडरबर्न ने स्वागत भाषण पढ़ा था। वह बम्बई के अवकाश प्राप्त आई० सी० एस० अधिकारी थे। इसी बीच में सरकार के कान खड़े हो गए और उसने सुलह करने की कोशिश की। कुछ भारतीय उच्च न्यायालयों के जज और विधान परिषद के सदस्य बना दिए गए और कुछ पर राजद्रोह के मुकदमे चलाए गए या देश से निकाल दिए गए। फिर भी कांग्रेस के लगातार

अधिवेशन सफलतापूर्वक होते रहे। 1906 में बंगाल विभाजन के तुरन्त बाद कलकत्ता कांग्रेस में दादाभाई नौरोजी ने अध्यक्षता की और कांग्रेस ने स्वराज्य, स्वदेशी, ब्रिटिश माल के बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा का चौमुखी कार्यक्रम स्वीकार किया। इसके बाद कांग्रेस के दो टुकड़े हो गए, नरमपंथी और गरमपंथी। 1907 की सूरत कांग्रेस के अध्यक्ष रासबिहारी घोष थे। कांग्रेस पंडाल में गड़बड़ी हुई और वामपंथी लोग उससे अलग हो गए। जिनमें बाल गंगाधर तिलक, अरविन्द घोष, एस० दोरायस्वामी और कई अन्य थे। अप्रैल 1908 में इलाहाबाद कांग्रेस हुई और गरमपंथियों को अलग कर दिया गया। 1910 में मिन्टो मोर्ले सुधार लागू किए गए जिनके अन्तर्गत मुसलमानों को पृथक प्रतिनिधित्व का अधिकार मिला और जिससे दोनों सम्प्रदायों में नए संघर्ष भड़क उठे। इसके बाद कांग्रेस में गरमपंथियों का नियंत्रण हो गया और नरमपंथियों ने कांग्रेस से हट कर अपना अलग सम्मेलन किया। 1913 में वायसराय को मार डालने की कोशिश की गई। पंजाब में हिंसात्मक तरीकों से स्वतंत्रता प्राप्त करने का एक षड्यंत्र रचा गया और पंजाब के भाई परमानन्द तथा अरविन्द घोष पर मुकदमें चलाए गए। अरविन्द घोष पर जोकि एक अत्यन्त गरम और जोशीले देशभक्त तथा एक महान लेखक एवं विद्वान थे, अत्यन्त दूषित सबूतों के आधार पर अभियोग लगाए गए। मुकदमें के बाद उन्होंने ब्रिटिश भारत छोड़ दिया और पांडिचेरी जाकर रहने लगे जहां उनके साहित्यिक प्रतिपादन तथा धार्मिक नेतृत्व की महान प्रतिभाओं को पूर्ण अभिव्यक्ति मिली।

डॉ० भगवानदास की सहायता से श्रीमती बेसेन्ट ने 'सनातन धर्म सीरीज' के शीर्षक से हिन्दू धर्म पर पाठ्य-पुस्तकें लिखीं। उन्होंने लड़के-लड़कियों से अल्पायु में विवाह न करने की प्रतिज्ञाएं लीं और विदेश-यात्रा पर लगे निषेध तथा बाल-वैधव्य की निन्दा की। अरुण्डेल और इकबाल नारायण गुर्टू ऐसे आत्मत्यागी शिक्षाविदों की सहायता से उन्होंने सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज को आश्चर्यजनक सफलता प्रदान की और वह हिन्दू संस्कृति एवं आदर्शों के प्रसार का स्रोत बन गया। सितम्बर 1913 में उन्होंने 'द ब्रदर्स ऑफ सर्विस' (सेवा भाई) नामक संस्था संगठित की। ये लोग राष्ट्रीय एकता और देश की चौमुखी उन्नति के लिए काम करने की प्रतिज्ञा करते थे। 1913 में उन्होंने जो व्याख्यान दिए थे उनका सम्बन्ध शिक्षा, समाज और राजनीतिक सुधारों से था; स्वायत्त शासन, बालक-बालिकाओं के लिए सार्वजनिक शिक्षा, रंगभेद, औपनिवेशिक व्यवस्था और जाति प्रथा उनके व्याख्यानों के विषय थे। बाद में इन भाषणों को

एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया जिसका नाम था 'वेक अप इण्डिया' (भारत जाग)। उन्होंने कुछ अपने व्यक्तिगत विश्वासों की भी चर्चा की जिनमें विश्व की एक उच्चतर एवं आन्तरिक सरकार का विचार भी शामिल था। थियोसाफिकल विश्वास के अनुसार ईश्वर अथवा सर्वोच्च शासक सोपानात्मक ढंग से (पदानुक्रम के अनुसार) महान देवदूतों की सहायता से शासन करता है। श्रीमती बेसेन्ट का विश्वास था कि सनत्कुमार ईश्वर के प्रतिनिधि थे और गोवी रेगिस्तान के शम्वल नामक स्थान में अपने शिष्यों के साथ रहते थे। वह यह भी विश्वास करती थीं कि वैवस्वत मनु अभी भी अपने सूक्ष्म रूप में अगस्त्य, मौर्य और कूट हूमि ऐसे ऋषियों और गुणियों की सहायता से विश्व के शासन (सरकार) का संचालन कर रहे हैं। वह विशेषरूप से यह मानती थीं कि मौर्य और कूट हूमि हिमालय के क्षेत्र में रह रहे हैं। थियोसाफिकल सोसायटी को इन्हीं से प्रेरणा मिली है और यही मानव-विकास का मार्गदर्शन कर रहे हैं। इसी के साथ-साथ उनका यह भी विश्वास था कि भारत को चौमुखी उन्नति करने और विश्वशान्ति तथा कल्याण के लिए काम करने वाली एक स्वशासित इकाई के रूप में विकसित होने में यही ऋषिगण मदद करेंगे।

इन्हीं विश्वासों से प्रेरित होकर और खुल्लम खुल्ला सार्वजनिक रूप से यह कह कर कि वह प्रेरित एवं पथप्रदर्शित हैं, अक्टूबर 1913 में मद्रास की एक आम सभा में बोलते हुए उन्होंने भारतीय मामलों पर विचार करने के लिए कामन (लोक) सभा की एक स्थायी समिति नियुक्त करने की अपील की ताकि भारत को स्वराज्य अर्थात् स्वशासन मिल सके। उन्होंने मांग की कि केवल वार्षिक सम्मेलनों में ही नहीं बल्कि पूरे साल देश-भर में संगठित ढंग से आन्दोलन चलाया जाना चाहिए। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए आन्दोलन चलाने और अपने राजनीतिक कार्यों में मदद देने के लिए 1914 की जनवरी में उन्होंने 'कामन वील' नाम से एक साप्ताहिक समाचार-पत्र निकाला। 1914 की जून में उन्होंने 'मद्रास स्टैन्डर्ड' खरीद कर उसका नाम 'न्यू इण्डिया' कर दिया। उसमें वह बराबर लिखती रहती थीं और उसी के पृष्ठों द्वारा उन्होंने 'होम रूल' (स्वराज्य) की मांग का जबर्दस्त अभियान आरम्भ किया। 1914 में वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रतिनिधि हो गईं। उनका विश्वास था कि 1915 में उन्होंने सूक्ष्म रूप में अपने गुरु के दर्शन किए और वह बार-बार यह कहती थीं कि उनके गुरु ने उन्हें 'आगे बढ़ने' का आदेश दिया है। अपने 'गुरु के शब्दों' में उन्होंने दोहराया कि "तुम्हें मुसीबतों और खतरों का सामना करना पड़ेगा। अपने विरोध को क्रोध का

भ्रष्ट रूप न लेने देना। दृढ़ रहना लेकिन उत्तेजक नहीं। भावी परिवर्तनों की डट कर मांग करना और साम्राज्य के भीतर भारत के लिए समान स्थान का दावा करना।"

इस सन्देश का अनुसरण करते हुए—जो कि उनके कथनानुसार उन्हें अपने गुरु से मिला था—उनके कार्यक्रम के मुख्य आधार-स्तम्भ ये थे : भारत को राष्ट्र मण्डल के भीतर रहना चाहिए, लेकिन अन्य उपनिवेशों के समान; भारत को शान्तिपूर्ण तरीकों से आजाद करना चाहिए और हर प्रकार की हिंसा से दूर रहना चाहिए। वह दिसम्बर 1915 की बम्बई कांग्रेस में शामिल हुईं जिसके अध्यक्ष लार्ड सिन्हा थे। वह एक जाने-माने नरमपंथी थे और उन्होंने अपने एक वक्तव्य में उन लोगों को उतावले आदर्शवादी कहा जो भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप श्रीमती बेसेन्ट ने 1915 में बम्बई के चीना बाग में कुछ लोगों की सभा की जिसमें उन्होंने 'होम रूल लीग' चालू करने की अपनी योजना सामने रखी जिसका उद्देश्य था भारत के लिए पूर्ण होम रूल (स्वराज्य अथवा स्व-शासन) प्राप्त करना। यद्यपि बहुत से लोग इस वाक्य के प्रयोग से कुछ चौंक गए क्योंकि इससे आयरलैण्ड में पार्नेल के नेतृत्व में चले हिंसात्मक होम रूल आन्दोलन की याद ताजा हो जाती थी, लेकिन वह स्वयं 'होम रूल' वाक्य इस्तेमाल करने से बिलकुल ही नहीं डरीं। (फलत:) जो लोग उस सभा में उपस्थित थे, वे दो भागों में बंट गए—(1) उनके अनुयायी तथा मित्र और (2) वे अन्य लोग जो इस नए आन्दोलन से डरते थे और जिनका आग्रह था कि यह काम कांग्रेस को ही अपने हाथ में लेना चाहिए। और श्रीमती बेसेन्ट प्रतीक्षा करने को राजी हो गईं।

●

अध्याय 5

होम रूल के लिए अभियान

वर्तमान समय के विश्व-प्रसिद्ध जे० कृष्णमूर्ति के पिता जी० नारायणैया द्वारा चलाए गए एक मुकदमे की समाप्ति के बाद, जिसमें वह प्रतिवादी थीं, श्रीमती बेसेन्ट 1916 में राजनीतिक क्षेत्र में फिर से सक्रिय हुईं। मुकदमा 1915 में समाप्त हुआ था। उसके पश्चात वादी का वकील राजनीतिक कार्य में उनके साथ हो गया। श्रीमती बेसेन्ट की उदारता और सज्जनता की यह विशेषता थी कि मुकदमे के दौरान में उस वकील द्वारा की गई कुछ थियोसाफिकल सिद्धान्तों और नेताओं की स्पष्ट आलोचना के बावजूद वह अपने राजनीतिक कार्यों में उसके साथ काम करने से ज़रा-सा भी नहीं हिचकिचाईं।

जे० कृष्णमूर्ति के साथ उनके जो सम्बन्ध थे उनके सन्दर्भ में यदि हम गौर करें तो शायद ऐनी बेसेन्ट की चारित्रिक विशेषताओं को अधिक अच्छी तरह समझ सकें। जैसा कि सर्वविदित है, कृष्णमूर्ति के पिता ने अपने दो पुत्रों—कृष्णमूर्ति और नित्यानन्द—की शिक्षा और पालन-पोषण का भार श्रीमती बेसेन्ट को सौंप दिया था। बाद में कुछ लोगों के उकसाने और रुपये खर्च करने पर पिता ने श्रीमती बेसेन्ट के संरक्षण से अपने पुत्रों को वापस लेने के लिए अदालती कार्रवाई की जिनकी शिक्षा पर उन्होंने सिर्फ एक लम्बी धनराशि ही व्यय नहीं की थी बल्कि इंगलैण्ड के एक विश्वविद्यालय में उन्हें भरती कराने की भी व्यवस्था कर ली थी। जिन लोगों ने कृष्णमूर्ति के पिता को इस मुकदमेबाजी के लिए उकसाया था, वे श्रीमती बेसेन्ट के व्यक्तिगत विरोधी थे और उन्हें एक ऐसा विदेशी समझते थे जो हिन्दू समाज को नष्ट करना चाहती थी। इस पुस्तक का लेखक मामले के प्रत्येक विवरण से भलीभांति परिचित है, क्योंकि वह वादी, श्री नारायणैया का वकील था। श्रीमती बेसेन्ट ने अपनी पैरवी स्वयं की; मद्रास उच्च न्यायालय में उन्होंने अपनी पैरवी और अदालत के प्रति आचरण का जो परिचय दिया वह इंगलैण्ड की अदालतों में स्वयं अपने वकील की हैसियत से किए गए उनके ऐतिहासिक निष्पादन से किसी भी हालत में कम नहीं था।

वह अपने तर्क पर दृढ़ थी, लेकिन न्यायाधीश के प्रति सदा विनम्र रहती थीं—यद्यपि वह न्यायाधीश अंग्रेज था और हर दृष्टिकोण से इनके विरुद्ध द्वेषी था—क्योंकि इन्होंने ईसाई धर्म छोड़ दिया था, हिन्दू धर्म का जीवन और चिन्तन अपना लिया था और राजनीतिक मामलों में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध थीं। जिन न्यायाधीशों ने उनके मामले की सुनवाई की उन्हें उनके कानूनी पाण्डित्य, दलीलें पेश करने में उनकी वक्तृत्वशक्ति और हर प्रयुक्त शब्द में निहित उनकी तर्कसंगत सामान्य बुद्धि की प्रशंसा करनी ही पड़ी।

मुकदमे के दौरान में, उन्होंने कुछ ऐसे दस्तावेज़ों को अदालत में पेश करने या उनके बारे में कुछ बतलाने से इनकार कर दिया जिनका सम्बन्ध श्री लेडबीटर से था जिनको उन्होंने अपने संरक्षण के दोनों लड़कों का उपदेशक नियुक्त किया था और जिनके विरुद्ध कुछ गम्भीर आरोप लगाए गए थे। ऐसे दस्तावेज़ों में आस्ट्रेलिया के थियोसाफिस्टों की एक संस्था की कारंवाइयों की रिपोर्ट भी शामिल थी। जब उन्हें ये दस्तावेज और तत्सम्बन्धी कागजात पेश करने का आदेश दिया गया, तो श्रीमती बेसेन्ट ने विशेषाधिकार का दावा किया लेकिन अदालत ने उनकी बात नहीं मानी। इस पर वादी ने अपने वकील से उनके विरुद्ध अदालत की मानहानि का मुकदमा चलाने को कहा। लेकिन वकील ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और कहा कि जहां तक लड़कों के अभिभावकत्व के मामले का प्रश्न है, वह उसे लड़ने को तैयार है लेकिन वह प्रतिशोधात्मक रवैया नहीं अपना सकता। विरोध पक्ष के वकील के इस दृष्टिकोण के प्रति श्रीमती बेसेन्ट की जो प्रतिक्रिया हुई, उनके मूल चरित्र को समझने के लिए उससे अच्छा कोई अन्य उदाहरण नहीं हो सकता है। उन्होंने उसे (वकील को) इस आशय का एक पत्र लिखा कि यद्यपि वह उसकी इस शौर्यपूर्ण सौजन्यता की प्रशंसा करती हैं, लेकिन फिर अपने मुवक्किल के आदेश की उपेक्षा करने के उसके व्यवहार पर उन्हें आपत्ति है। उन्होंने यह भी लिखा कि उसका यह कर्त्तव्य है कि उनके विरुद्ध मानहानि का मामला चलाए। पत्र के अन्त में उन्होंने लिखा कि "मैं आपके रवैये और उदार दृष्टिकोण से इतनी प्रभावित हुई हूं कि आपसे एक यह कृपा चाहूंगी कि जब यह मुकदमा खत्म हो जाए तो आप उस शिक्षा-सम्बन्धी और राजनीतिक काम में मुझे अपना सहयोग प्रदान करें जिसमें मैं लगी हूं।" वकील ने इस पत्र का तब तक कोई उत्तर नहीं दिया जब तक मुकदमा चलता रहा; लेकिन उसके पश्चात् उसने सिर्फ उनका प्रस्ताव ही नहीं मान लिया बल्कि होम रूल लीग,

राष्ट्रीय विश्वविद्यालय और स्काउट आन्दोलन के काम में उनके अत्यन्त घनिष्ट सहायकों तथा समर्थकों में से एक हो गया।

जहां तक मुकदमे का आगे का हाल है, भारतीय अदालतों में श्रीमती बेसेन्ट मुकदमा हार गई लेकिन एक तकनीकी प्रश्न पर प्रिवी काउंसिल में अपील करने पर वह जीत गई। उन्होंने कृष्णमूर्ति और उनके भाई को शिक्षा पूरी करने में सहायता जारी रखी और इसके पश्चात् कृष्णमूर्ति थियोसाफिकल आन्दोलन के एक प्रमुख नेता हो गए बल्कि कुछ लोग तो जिनमें श्रीमती बेसेन्ट भी सम्मिलित थीं, उन्हें भावी मसीहा भी समझने लगे। लेकिन फिर भी हुआ यह कि कृष्णमूर्ति थियोसाफिकल सोसायटी के दीक्षा विभाग की कार्यविधियां के सख्त विरुद्ध हो गए और यह घोषणा करके उन्होंने उससे तमाम सम्बन्ध तोड़ दिए कि उनके जीवन का लक्ष्य लोगों को परम्परागत धार्मिक विश्वास छोड़ने पर मजबूर करना, यथार्थ से भाग कर स्वयं मानव द्वारा निर्मित विधियों की शरण में जाने से उन्हें रोकना और उनमें आत्म-विश्वास विकसित करना है। थियोसाफिकल सोसायटी से सिर्फ, उन्होंने ही सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर लिया बल्कि सोसायटी के सदस्यों की एक बहुत बड़ी संख्या भी उनके साथ-साथ अलग हो गई और आज स्थिति यह है कि वह एक नई विचारधारा के श्रेष्ठ नेता हैं और भारत, अमेरिका तथा विश्व के अनेक अन्य भागों में उन्हें अपना नेता अथवा गुरु मानने वाले फैले हुए हैं।

अपने गुरु के वक्तव्यों में कृष्णमूर्ति ने बहुत से लोगों और विश्वासों की अत्यन्त कटु आलोचना की। इस आलोचना के मुख्य शिकार थे उनकी अभिभावक स्वयं श्रीमती बेसेन्ट, उनके शिक्षक जार्ज आरुण्डेल और उनके उपदेशक सी० डब्लू० लेडबीटर। लेकिन श्रीमती बेसेन्ट के हृदय में उनके लिए जो प्रेम और स्नेह था उसमें रत्ती भर भी अन्तर नहीं आया; उन्होंने कृष्णमूर्ति के साथ जो उपकार किए थे, उनके लिए उन्हें कभी कोई पछतावा नहीं हुआ।

रानडे की प्रेरणा से गोखले और कुछ अन्य लोगों ने तरह-तरह के सार्वजनिक कल्याणकार्य करने के उद्देश्य से सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी (भारत सेवक समाज) की स्थापना की थी। यह सोसायटी राजनीति में नरमपंथी पक्ष का प्रतिनिधित्व करती थी। लेकिन बंगाल विभाजन, पंजाब, बम्बई और बंगाल में बरती जानेवाली दमन-नीति और तिलक, लाजपतराय और नेताओं के विरुद्ध चलाए गए मुकदमों आदि ने लोगों के मन को बुरी तरह से खिन्न और असंतुष्ट कर दिया था। विली के हत्या

के मामले में सावरकर को फंसा दिया गया था। मुकदमे के लिए भारत लाए जाते समय रास्ते से वह भाग गए, लेकिन फिर पकड़ लिए गए। उन्हें काफी लम्बी कैद की सजा दे दी गई। बहुत बाद में छूटने पर वह हिन्दू महासभा के अध्यक्ष हो गए। बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता 'वन्दे मातरम्', 'नवशक्ति', 'कर्मयोगी' और 'धर्म' समाचारपत्रों का सम्पादन कर रहे थे और विपिन चन्द्रपाल इस काम में उनकी सहायता कर रहे थे। बंगाल में आतंकवादी आन्दोलन उठा और प्रान्त भर में फैल गया। इस आन्दोलन में शामिल बहुत से नवयुवकों पर मुकदमे चले और उन्हें फांसी दे दी गई। कनाडा और अमेरिका में बसे कुछ सिख लोग भारत लौट आए और यहां आकर उन्होंने गदर आन्दोलन शुरू किया।

ऐसी थी देश की स्थिति जब सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की बुनियाद डालने वाली श्रीमती बेसेन्ट ने भारत में अपने कार्य की एक व्यापक योजना बनाई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सबसे पहले उनका विचार भारतीय राष्ट्रीयता को विकसित करने के लिए एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय स्थापित करने का था। तत्कालीन संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) के प्रमुख राजनीतिक नेता पंडित मदन मोहन मालवीय प्रस्तावित अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के मुकाबले में—जिसकी स्थापना के लिए महान सर सय्यद अहमद प्रचार कर रहे थे—एक हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करना चाहते थे। जैसा कि हमें मालूम है, श्रीमती बेसेन्ट ने एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के लिए सरकार से प्रपत्र (चार्टर) प्राप्त करने की कोशिश की थी; लेकिन अनेक कठिनाइयों और कड़े विरोध के कारण, महान आत्मत्याग का परिचय देती हुई वह मालवीयजी के प्रस्तावित हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए आधार-स्तम्भ के रूप में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज दे देने को राजी हो गई। 1921 में इस विश्वविद्यालय ने श्रीमती बेसेन्ट को डॉक्टरेट की उपाधि देकर स्वयं को सम्मानित किया।

मद्रास में उन्होंने वाई० एम० आई० ए० (भारतीय युवक संघ) की स्थापना करके यह कोशिश की कि बनारस और मद्रास के विद्यार्थी वहीं रहें और बंगाल तथा पूना में खूब जोरों से फैले हुए आतंकवादी आन्दोलन से दूर रहें। पूना में प्लेग की महामारी को रोकने के लिए सरकार द्वारा लागू किए गए कड़े प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में दो ब्रिटिश सैनिक अधिकारी मार डाले गए थे। बंगाल में अंग्रेज अधिकारियों की हत्याएं की जा रही थीं और ऐसे ही एक मामले में खुदीराम बोस पर मुकदमा चला था और अन्त में उन्हें फांसी दे दी गई थी।

ऐसे समय में, अपनी समान नीति का अनुसरण करती हुई श्रीमती बेसेन्ट ने राजनीति अपराधों का विरोध किया— वे अपराध चाहे देशप्रेम की भावना से ही प्रेरित क्यों न हों। काफी कड़े विरोध का सामना करती हुई श्रीमती बेसेन्ट ने उनके भारत-आगमन के अवसर पर प्रिंस ऑफ वेल्स (ब्रिटिश साम्राज्य के प्रधान राजकुमार) को सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज में आने के लिए निमन्त्रित किया।

1885 के लगभग भारत के पक्ष की पैरवी करने के लिए सर्वप्रथम भारतीय शिष्टमंडल इंगलैण्ड गया था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, चन्दावरकर और सालेम रामस्वामी मुदलियार इस शिष्टमंडल के सदस्य थे। इसके बाद और भी कई शिष्ट मंडल इंगलैण्ड गए। 1913 में भूपेन्द्रनाथ बसु, जिन्ना, समर्थ, लाजपतराय और दूसरे लोग वहां गए। लेकिन इन प्रयत्नों से कोई स्पष्ट परिणाम नहीं निकला और जनता की निराशा और असंतोष बढ़ता ही गया। ऐसी कठिन घड़ी में, 1916 की पहली सितम्बर को श्रीमती बेसेन्ट ने देश में सबसे पहली बार व्यापक पैमाने पर सार्वजनिक अपील की कोशिश की और होम रूल लीग का आरम्भ किया। उन्होंने 'द आर्डर ऑफ सन्स एण्ड डाटर्स ऑफ इण्डिया' (भारत के पुत्र और पुत्रियां) नामक संस्था भी संगठित की। उनका यह निश्चित मत था कि नरमपंथियों तथा गरमपंथियों दोनों को मिलकर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए काम करना चाहिए ताकि एक संयुक्त राष्ट्रीय आवाज उठाई जा सके। 1916 में वह इस पुस्तक के लेखक के साथ तिलक से बातचीत करने पूना गईं कि अपनी होम रूल लीग और इसी नाम से तिलक द्वारा बनाई गई संस्था को एक में मिला दिया जाए। तिलक ने उनका प्रस्ताव ठुकरा दिया और उनकी योजना सफल नहीं हो सकी। हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने की कोशिश में उन्होंने होम रूल लीग का एक पदाधिकारी बनने के लिए मुहम्मद अली जिन्ना को राज़ी कर लिया। इस काम में अनेक योग्य और उत्साही समर्थकों ने उनकी मदद की जिनमें जमनादास द्वारकादास, कांजी द्वारकादास, उमर सोभानी, शंकर लाल बैंकर और दिल्ली के लाला सुल्तान सिंह और बम्बई के नरोत्तम ऐसे प्रभावशाली और दूरदर्शी व्यापारियों के नाम प्रमुख हैं। साप्ताहिक 'कामनवील' और दैनिक 'न्यू इण्डिया' के सम्पादन एवं प्रकाशन में आरुण्डेल और बी० पी० वाडिया बड़े उत्साह और योग्यता से उनकी सहायता करते थे। 'न्यू इण्डिया' के स्तंभों में भारत के स्वराज्य के पक्ष में वह बराबर लेख लिखा करती थीं। नए सरकारी कानूनों के अन्तर्गत 'न्यू इण्डिया' प्रेस से बार-बार जमानतें मांगी जाती थीं और कई बार ये

ज़मानतें ज़ब्त भी हो गईं। तत्सम्बन्धी मुकदमों की पैरवी वह स्वयं भी करतीं और कभी-कभी अपने एडवोकेट (इस पुस्तक के लेखक) के द्वारा भी। इन मुकदमों से होम रूल लीग का बड़ा प्रचार हो जाता था और देश के सभी भागों में लीग की शाखाएं स्थापित हो गईं।

लखनऊ कांग्रेस में नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच एक अस्थायी समझौता हो गया और कांग्रेस लीग सुधार योजना तैयार की गई। 19.6 में कुड्डालोर (Cuddalore) राजनीतिक सम्मेलन में श्रीमती बेसेन्ट ने भारतीय होम रूल के पक्ष में एक ज़ोरदार वक्तव्य दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि मद्रास के तत्कालीन गवर्नर लार्ड पेन्टलैण्ड ने उन्हें बुलवाया और उनसे भारत छोड़ देने को कहा। ऐसा करने से उन्होंने इनकार कर दिया, जिस पर जून 1917 में श्रीमती बेसेन्ट को और राजनीति तथा पत्रकारिता में उनके साथी जी० एस० आरुण्डेल और बी० पी० वाडिया को मद्रास सरकार के आदेश से नज़रबन्द कर दिया गया। ऊटकमंड में नज़रबन्दी से पूर्व उन्होंने एक खुला पत्र प्रकाशित किया था, जिसमें यह दृढ़ विश्वास प्रकट किया गया था कि भारत को शीघ्र ही होम रूल मिल जाएगा। मद्रास और देश-भर में उनकी नज़रबन्दी के विरोध में सभाएं की गईं और जब तक वह बन्द रहीं तब तक लगातार हर महीने जगह-जगह सभाएं होती रहीं और जुलूस निकाले जाते रहे। इस नज़रबन्दी से केवल भारत में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी स्वातंत्र्य आन्दोलन को बहुत बल मिला। अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने भी—जिन्हें श्रीमती बेसेन्ट के अनुयायी और उच्च न्यायालय के एक अवकाशप्राप्त न्यायाधीश सर सुब्रमण्य अय्यर ने एक अत्यंत जोशीला पत्र लिखा था—ब्रिटिश सरकार की भारतीय आन्दोलन से अपनी सहानुभूति प्रकट की। 1917 में भारत सचिव (मान्टेगू) तथा वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने एक घोषणा (Proclamation) जारी की, जिसमें ब्रिटिश सरकार के इस इरादे पर ज़ोर दिया गया कि स्व-शासकीय संस्थाओं के विकास के साथ-साथ स्वशासन दिया जाएगा। इसी नीति के अन्तर्गत श्री मान्टेगू और वायसराय (लार्ड चेम्सफोर्ड) ने जनमत संग्रह के बाद पूरी योजना बनाने के लिए देश-भर का दौरा किया। इस समय तक, दिन ब दिन बढ़ते हुए असंतोष और लगातार चल रहे आन्दोलन के फलस्वरूप, श्रीमती बेसेन्ट रिहा कर दी गई थीं और अगस्त 1917 में कलकत्ता में वह राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्ष बना दी गईं।

कलकत्ता कांग्रेस में उनके अध्यक्षीय भाषण (जिसके कुछ अंश परिशिष्ट में देखिए) के आरम्भिक वाक्य इस प्रकार थे :

"जब मुझे अपमानित किया गया तब आपने मुझे सम्मान का मुकुट पहनाया; जब मुझे बदनाम और कलंकित किया गया, तो आपने मेरी ईमानदारी और निष्ठा पर विश्वास किया; जब नौकरशाही के पैरों तले मुझे कुचला जा रहा था, तब आपने मुझे अपना नेता घोषित किया; जब मेरा मुंह बन्द कर दिया गया और मैं स्वयं अपनी पैरवी नहीं कर सकती थी, तब आपने मेरी पैरवी की और रिहा कराया। मैं तो अत्यन्त क्षुद्र तरीकों से सेवा करने में गर्व करती थी, लेकिन आपने मुझे ऊपर उठा कर दुनिया के सामने अपने चुने हुए प्रतिनिधि के रूप में पेश कर दिया। मेरे पास शब्द नहीं हैं जिन से मैं आपको धन्यवाद दे सकूं, वह वक्तृत्वशक्ति नहीं जिससे अपना ऋण अदा कर सकूं। मेरे कार्य ही मेरी ओर से बोलेंगे, क्योंकि शब्दों में इतनी सामर्थ्य नहीं है। आपने मुझे जो भेंट दी है मैं उसे मातृभूमि की सेवा में परिणत कर रही हूं। मैं अपने जीवन को बिलकुल नए सिरे से अपने व्यवहार द्वारा उनकी पूजा के लिए उत्सर्ग कर रही हूं। मेरे पास जो कुछ भी है और मैं स्वयं जो कुछ भी हूं वह मां की वेदी पर रखे देती हूं और हम सब मिलकर, शब्दों की अपेक्षा सेवा के द्वारा, नारा लगाएंगे—वन्दे मातरम्।"

होम रूल की मांग करती हुई श्रीमती बेसेन्ट ने देश-भर का दौरा किया। मान्टेगू-चेम्सफोर्ड सुझावों ने प्रान्तों में द्वैध शासन कायम कर दिया था और केन्द्रीय सरकार को अछूता छोड़ दिया था। कांग्रेस के कुछ लोगों ने इन सुधारों का स्वागत किया और दूसरों ने इनकी निन्दा की। अगस्त 1918 में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ, हसन इमाम उसके अध्यक्ष थे और वर्तमान लेखक उसके सचिवों में से एक था। उस समय नरमपंथी और गरमपंथी दोनों ही पक्षों में एक प्रकार से समझौता हो गया और दोनों ने ही प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की मांग की। दिसम्बर 1918 में हुई कांग्रेस में यह स्वीकार करते हुए कि मान्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधार निराशाजनक है, श्रीमती बेसेन्ट ने प्रस्ताव किया कि वे योग्य भी है, उन पर उसी योग्य अमल किया जाए (अर्थात् उनसे जितना लाभ उठाया जा सकता, उतना तो उठाया ही जाए)। इसी विचार के अनुसार उन्होंने अपने मित्रों को सरकार में शामिल होकर काम करने की सलाह दी। इस पर जिन लोगों ने कांग्रेस और होम रूल लीग दोनों में काम किया था, उन्होंने मान्टेगू-चेम्सफोर्ड योजना के अन्तर्गत सरकारी पदों को स्वीकार कर लिया,

ऐसे लोगों में थे तेजबहादुर सप्रू, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, चिमनलाल सीतलवाद, सी० ई० चिंतामणि और इस पुस्तक का लेखक।

1918 तक गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से लौट आए थे जहां उन्होंने प्रवासी भारतीयों की शिकायतें दूर कराने के लिए सत्याग्रह चलाया था। बिहार में नील बागों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए बड़ी मेहनत करते हुए उन्होंने अहिंसा तथा सत्याग्रह के अपने विशेष सिद्धांतों का प्रचार किया। उन्होंने ऐसे सिद्धांत विकसित किए थे जिनका लक्ष्य था सरकार के कामों से असहयोग करके, विधान परिषदों और स्थानीय निकायों का बहिष्कार करके, वकीलों से वकालत छुड़वाकर और सामान्य लोगों से कुछ चुने-चुनाए कानूनों को भंग करवाकर अपने विरुद्ध मुकदमे चलवा कर, जेल की सजाएं और अपनी सम्पत्ति की कुर्की-जब्ती कराकर और करों की अदायगी न करने का अभियान चलाकर शासन को ठप्प कर देना—यह सब इसलिए करना ताकि स्वराज्य देने के लिए सरकार को मजबूर किया जा सके। होम रूल के लिए सख्ती से अपना आन्दोलन चलाते जाने के बावजूद श्रीमती बेसेन्ट ने सिद्धांततः गांधीजी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन का विरोध किया। वर्षों पूर्व अनुचित कानूनों के विरुद्ध आन्दोलन में ब्रैडला से सहयोग करने के साथ-साथ हिंसा के प्रयोग के विरुद्ध आवाज उठाने वाली श्रीमती बेसेन्ट ने अनुभव किया कि गांधीजी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन पर उन्होंने जो रवैया अपनाया, उनके लिए वही उचित है। फिर भी उन्होंने गांधीजी के उच्च आदर्शों, आत्म-त्याग और सत्य-प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा की। देश की निराश और कुंठित जनता में गांधीजी का आन्दोलन बहुत लोकप्रिय हो गया। श्रीमती बेसेन्ट की लोकप्रियता समाप्तप्राय हो गई और 1920 से 1930 के बीच के वर्षों में, एक ओर तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन और दूसरी ओर स्वराज्य आन्दोलन, दोनों खूब तेजी से चल रहे थे। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान कई जगह लोगों ने बहुत-सी ज्यादतियां भी कीं और एक बार तो गांधीजी ने स्वयं अपनी ही (आन्दोलन चलाने की) सलाह को 'घोर भयंकर भूल' कहा।

1919 में (ब्रिटिश) संसद ने लार्ड सेल्बोर्न की अध्यक्षता में एक जांच समिति नियुक्त की। समिति के समक्ष राष्ट्रीय होम रूल लीग की प्रतिनिधि के रूप में श्रीमती बेसेन्ट के अतिरिक्त और बहुत से अन्य प्रतिनिधियों ने भी भारत का पक्ष प्रस्तुत किया। इससे पहले श्रीमती बेसेन्ट ने संसदीय कामों और प्रक्रियाओं में राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की आदत डालने के उद्देश्य से 'मद्रास संसद' स्थापित की थी। समय-

समय पर इसकी बैठक मद्रास के गोखले हाल में होती थी जिसे उन्होंने स्वयं अपने पैसे से बनवाया था। इसमें हुई बहसें ज्ञापनों के रूप में प्रकाशित की जाती थीं। इनमें से एक था पंचायत कानून और दूसरा भारतीय वित्त पर एक ज्ञापन था। एक राष्ट्र मंडल विधेयक (कामनवेल्थ विल) बनाने की तैयारियां की गईं। मान्टेगू-चेम्सफोर्ड योजना के अन्तर्गत होनेवाले आम चुनावों में श्रीमती बेसेन्ट विधान मंडलों में जाने के पक्ष में थीं। कांग्रेस के कुछ सदस्य भी विधान मंडलों के बहिष्कार की नीति के परिणामों से असंतुष्ट थे और सी० आर० दास के नेतृत्व में स्वराज्य पार्टी का गठन भी किया गया जिसका पंडित मोतीलाल नेहरू ने भी समर्थन किया। मान्टेगू-चेम्सफोर्ड योजना के कार्य-काल में ही बी० पी० वाडिया, डो० के० तेलंग और जमनादास द्वारकादास के साथ श्रीमती बेसेन्ट ने होम रूल के पक्ष में प्रचार करने के लिए इंगलैण्ड का दौरा किया। उन्होंने लन्दन में होम रूल लीग की एक शाखा खोली जिसके अध्यक्ष संसद सदस्य जार्ज लैंन्सबरी और सचिव जान स्कर थे। इस कार्य में काउन्टेस डे ला वर, लेडी एमिली लुट्येन्स, जार्ज बर्नार्ड शा, श्री और श्रीमती फिलिप स्नोडेन ऐसे अन्य बहुत से लोगों ने उनकी सक्रिय सहायता की। बहुत से मजदूर संगठनों तथा यूनियनों ने भी उनकी लीग से अपने को सम्बन्ध कराया। उन्होंने इगलैण्ड में 'यूनाइटेड इण्डिया' (संयुक्त भारत) नाम से एक साप्ताहिक पत्र भी शुरू किया। इसके साथ-साथ उन्होंने 'न्यू इण्डिया' का एक विदेश संस्करण भी प्रकाशित किया।

कामन सभा के एक कमेटी रूम में 60 संसद-सदस्यों की एक सभा का आयोजन किया गया जिसमें उदार पंथी शिष्टमंडल के वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री, मुस्लिम लीग के एम० ए० जिन्ना, राष्ट्रीय होम रूल लीग के शिष्टमंडल ने प्रतिनिधि के रूप में श्रीमती वेसेन्ट और अखिल भारतीय होम रूल लीग के शिष्टमंडल के प्रतिनिधि की हैसियत से इस पुस्तक के लेखक के भाषण हुए। राष्ट्रीय होम रूल लीग के शिष्टमंडल ने इंगलैण्ड और स्काटलैण्ड के अनेक छोटे-बड़े शहरों का दौरा किया और भारतीय सुधारों के समर्थन में राजनीतिक भाषण दिए। शिष्टमंडल ने जिन शहरों का भ्रमण किया उनके नाम इस प्रकार हैं : लन्दन, साउथपोर्ट, एडिनबरा, ग्लैसगो, स्ट्रैटफोर्ड, क्रायडन, बैटर्सी, ब्राइटन, प्रेस्टन, लिवरपूल, वेलेजली, विगान, रोशडेल, बनवी, बोल्टन, मान्चेस्टर, आक्सफोर्ड, ब्रैडफोर्ड, हेरोगेट, यार्क, न्यूकैसेल, स्टोन, कार्डिफ़, ब्रिस्टल, बाथ, लीड्स और हैरो। जनता के सामने भारत का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए हर सम्भव साधन का लाभ उठाया गया; लन्दन के अनेक समाचारपत्रों के लिए लेख

लिखे गए, संवाददाताओं को साक्षात्कार कराए गए। भारत कार्यालय (India office) में भारत सचिव श्री मान्टेगू से एक शिष्टमंडल मिला। इसके अतिरिक्त श्रीमती सरोजिनी नायडू द्वारा संगठित एक महिला प्रतिनिधि मंडल भी वहां गया था जिसमें श्रीमती बेसेन्ट भी शामिल थी। मान्चेस्टर में एक बहुत बड़ी सभा हुई जिसमें श्रीमती बेसेन्ट बोलीं; लन्दन के क्वीन्स हाल में भी एक सभा हुई और भारतीय सुधारों के समर्थन में फेबियन सोसायटी के तत्वावधान में लन्दन के किंग्सवे हाल में भी एक भाषण हुआ। संसद समिति के सदस्यों ने संसद में इस सम्बन्ध में बहुत से प्रश्न भी पूछे। इस समिति के सदस्यों का यह काम था कि कामन सभा में निकट भविष्य में आने वाले किसी भारतीय विषय की ओर स्थानीय संसद-सदस्यों का ध्यान दिलाएं और सुधारों के पक्ष में उनके वोट दिलाएं या अगर आवश्यकता हो तो सरकार के किसी गलत कार्य को ठीक कराएं, इसी प्रकार स्थानीय जनता पर भी प्रभाव डालें, केन्द्रीय समिति से प्राप्त सूचनाओं को आम लोगों तक पहुंचाएं, भारत के बारे में स्थानीय समाचारपत्रों में प्रकाशित गलत वक्तव्यों को सुधरवाएं और सुधारों के पक्ष में सामग्री छपवाएं तथा उनके विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों का जवाब दें, और सामान्यत: भारत के प्रति ब्रिटिश जनता के कर्त्तव्य पर ज़ोर देने के लिए लाभप्रद कारंवाई करें तथा औरों को ऐसा करने में मदद दें। भारतीय स्वतंत्रता के आन्दोलन में मदद करने, संसद सदस्यों पर भारत की स्वतंत्रता और सामान्य हितों के पक्ष में वोट देने के लिए ज़ोर डालने और भारतीय स्वतंत्रता तथा स्वार्थों का समर्थन करने के लिए संसदीय चुनावों के उम्मीदवारों को प्रभावित करने के उद्देश्य से करीब दो सौ मजदूर यूनियनें तथा अन्य मज़दूर संगठन इस संसद समिति से सम्बद्ध की गईं। इस काम में जान स्कर ने सबसे अधिक भाग लिया था। इंगलैण्ड की अनेक महिला-संस्थाओं, मजदूर संगठनों तथा 'ब्रिटेन ऐण्ड इण्डिया लीग' (ब्रिटेन और भारत संघ) ने बहुत-सी सभाएं कीं। महिलाओं की सम्भवत: सर्वप्रथम संस्था, 'पायनियर क्लब' की एक सभा में, साउथपोर्ट के एक मजदूर सम्मेलन में और 'होम रूल फार स्काटलैण्ड लीग' (स्काटलैण्ड के लिए स्वशासन का संघ) की एक सभा में श्रीमती बेसेन्ट के भाषण हुए।

1919 में अमृतसर में कांग्रेस अधिवेशन हुआ और इससे भारतीय आन्दोलन के इतिहास में एक नए अध्याय का श्रीगणेश हुआ। अमृतसर के जलियांवाला बाग में

पुलिस की ज्यादतियों और इसी वर्ष की अनेक अन्य घटनाओं ने भारत में बेहद असंतोष पैदा कर दिया था।

1922 और 1924 के बीच अपने 'मद्रास संसद' सम्बन्धी कार्यों के दौरान में श्रीमती बेसेन्ट ने अपने साथियों से परामर्श करके भारत के लिए एक 'स्वराज्य संविधान' तैयार किया था जिसका ढांचा उन संविधानों के अनुरूप ही था जो ब्रिटिश साम्राज्य के कई उपनिवेशों ने अपने स्वातन्त्र्य आन्दोलन के दौरान में मसौदे के रूप में सामने रखे थे। यह संविधान दिल्ली में हुए एक राष्ट्रीय सम्मेलन के समक्ष रखा गया जिसके संयोजकों में अन्य बहुत से लोगों के साथ-साथ तेज बहादुर सप्रू, शिव-स्वामी अय्यर, श्रीनिवास शास्त्री, पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और एच० एस० गौड़ भी थे। श्रीमती बेसेन्ट सम्मेलन की सचिव थीं। सम्मेलन ने एक स्वतन्त्र संविधान की भौतिक आवश्यकताओं की रूपरेखा तैयार की। 1924 से 1929 तक के बीच में श्रीमती बेसेन्ट ने सप्रू और वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ऐसे लोगों की सहायता से लगातार कई सम्मेलनों का आयोजन किया, आत्मनिर्णय, स्वशासन और राष्ट्रीय सम्मेलन के उद्देश्यों पर कई पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं और इन सम्मेलनों की सचिव की हैसियत से अपने हस्ताक्षरों से बुलेटिन जगह-जगह भेजे। इसी बीच में, इंगलैण्ड में कन्जर्वेटिव (अनुदार दल की) सरकार आम चुनावों में हार गई और लेबर (मजदूर) पार्टी के हाथ में सत्ता आ गई—यद्यपि उसका बहुमत बहुत थोड़े मतों से होने के कारण ऐसा नहीं था कि उस पर कोई अधिक भरोसा किया जा सके।

इस दिशा में, इलाहाबाद में 1924 में हुए एक राष्ट्रीय सम्मेलन ने एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया। इस सम्मेलन ने इंगलैण्ड भेजने के लिए एक शिष्टमण्डल नियुक्त किया जिसमें श्रीमती बेसेन्ट, लेडी एमिली लुट्येन्स, शास्त्री और मुंशी ईश्वर शरण सम्मिलित थे। इस शिष्टमण्डल ने औपनिवेशिक होम रूल की मांग करते हुए इण्डिया ऑफिस (भारत सचिव का कार्यालय) को एक ज्ञापन दिया जिस पर श्रीमती बेसेन्ट, शास्त्री, मुंशी ईश्वर शरण, अली इमाम, के० जी० गुप्त और कई अन्य लोगों के हस्ताक्षर थे; उसमें यह सुझाव दिया गया था कि जैसा कि आयरिश फ्री स्टेट और अन्य उपनिवेशों ने किया था वैसे ही भारत भी अपना संविधान स्वयं बनाए। ब्रेडफोर्ड ने इंगलैण्ड में एक सार्वजनिक अभियान चालू किया और जगह-जगह सभाएं की गईं। 1924 की 23 जुलाई को श्रीमती बेसेन्ट के सार्वजनिक जीवन की 50वीं वर्षगांठ के अवसर पर उनके सम्मानार्थ क्वींस हाल में एक विशाल

प्रदर्शन किया गया जिसमें रैमज़े मैकडोनल्ड, लार्ड हाल्डेन, फिलिप स्नोडेन, लार्ड बैडेन-पावेल और अन्य कई लोगों ने प्रदर्शन और भारत के पक्ष में किए जाने वाले उनके प्रयत्नों से सहमति प्रकट की।

इस पृष्ठभूमि के साथ श्रीमती बेसेन्ट भारत लौटीं और कांग्रेस, होम रूल लीग स्वराज्य पार्टी, मुस्लिम लीग और इण्डिपेन्डेन्ट पार्टी का एक संयुक्त मोर्चा बनाने की अपील की। जब वह गांधीजी के पास गईं तो उन्होंने कहा कि असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलनों के साथ-साथ कांग्रेस संविधान भी खत्म हो चुका है और इसलिए गांधीजी ने चर्खा, अस्पृश्यता निवारण और साम्प्रदायिक एकता के एक कार्यक्रम का सुझाव दिया जो उनके विचार से उपयुक्त समर्थ और प्रभावशाली था। गांधीजी के कार्यक्रम से सहमत न होने पर भी श्रीमती बेसेन्ट रोज आधा घंटा चर्खा चलाने को राज़ी हो गईं बशर्ते कि असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलन रोक दिए जाएं। लेकिन बेलगांव कांग्रेस में (जो 1924 में गांधीजी की अध्यक्षता में हुआ था) मान्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों के पूर्ण बहिष्कार और असहयोग के निश्चय किए गए। तत्पश्चात, श्रीमती बेसेन्ट ने एक संयुक्त सम्मेलन का आयोजन किया और फिर एक और राष्ट्रीय सम्मेलन के बाद मुख्यतः उन्हीं के प्रयत्नों से तैयार किए गए कामनवेल्थ इण्डिया बिल (राष्ट्रमण्डल भारत विधेयक) को ब्रिटिश एटोर्नी-जनरल, श्री स्लेसर की सहायता से एक संसदीय रूप दिया गया।

ब्रिटिश कामन सभा में संसद सदस्य श्री जार्ज लैन्सबरी ने यह विधेयक पेश किया और श्री स्नेल, कर्नल वेजवुड, श्री चार्ल्सबन, श्री हैडेन गेस्ट, श्री वाल्टर बेकर, श्री जिलेट, श्री लीस स्मिथ, श्री जेम्स हडसन, श्री डाल्टन और श्री स्कर ने उसका समर्थन किया। फलतः यह आदेश दे दिया गया कि 17 दिसम्बर 1925 को कामन सभा द्वारा वह छापा जाए। संसद के प्रथम पठन में विधेयक पारित भी हो गया। लेकिन इसी बीच में कुछ कांग्रेस नेताओं ने इंगलैण्ड एक तार भेजा कि यह विधेयक कांग्रेस का नहीं है। फलतः ब्रिटिश संसद के बाद के सत्र में वह रद्द हो गया। 1929 में श्रीमती बेसेन्ट फिर इंगलैण्ड गईं और सभाओं की एक शृंखला आयोजित करके भारत को होम रूल देने की इंगलैण्ड से अपील की।

1928 की 2 जुलाई को रैम्जे मैकडोनल्ड ने एक वक्तव्य में कहा : "मुझे आशा है कि वर्षों में नहीं बल्कि कुछ महीनों में ही राष्ट्र मण्डल में एक नए उपनिवेश की वृद्धि हो जाएगी; मेरा मतलब भारत से है।"

27 जून 1929 को मान्चेस्टर के फ्री ट्रेड हाल (स्वतन्त्र व्यापार हाल) में 'भारत में ब्रिटिश शासन विश्व शान्ति को खतरा' पर एक विशाल प्रदर्शन हुआ जिसका आयोजन मान्चेस्टर की कामन वेल्थ ऑफ़ इण्डिया लीग (भारत का राष्ट्रमण्डल लीग) ने किया था और अध्यक्षता ब्रिटिश सरकार के एक मन्त्री, जार्ज लैन्सबरी ने की थी। प्रदर्शन में श्रीमती बेसेन्ट, मुंशी ईश्वर शरण, बी० शिवा राव, मेजर ग्रैहम पोल और कई अन्य लोगों के भाषण हुए। इस प्रदर्शन ने इंगलैण्ड में एक जबर्दस्त मानसिक हलचल मचा दी। लन्दन के कैक्सटन हाल में भी एक 'कामन वेल्थ ऑफ़ इण्डिया' (भारत का राष्ट्रमण्डल) सम्मेलन जिसकी अध्यक्ष श्रीमती बेसेन्ट थीं। इसमें मुंशी ईश्वर शरण और बहुत से भारतीयों ने भाग लिया। सम्मेलन में शामिल प्रतिनिधियों ने सर्वसम्मति से भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग का प्रस्ताव पास किया। 1929 की 29 जून को श्रीमती बेसेन्ट ने 'भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य' पर एक सार्वजनिक भाषण भी दिया।

बम्बई में एक सर्वदलीय सम्मेलन किया गया जिसमें विभिन्न राजनीतिक दलों ने भाग लिया था और सभी दलों को एक-दूसरे के निकट लाने, हिन्दू-मुस्लिम एकता और स्वराज्य की योजना की रूपरेखा तैयार करने के तरीके ढूंढने के लिए एक समिति नियुक्त की गई।

1925 से 1929 तक के बीच श्रीमती बेसेन्ट ने स्वराज्य की एक सर्वसम्मत योजना बनाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों और नेताओं में एकता स्थापित करने की बड़ी सक्रिय कोशिश की और इसके पक्ष में जनमत तैयार करने के लिए उन्होंने समाचारपत्रों में बहुत से लेख लिखे, देश-भर में जगह-जगह भाषण दिए और साहित्य वितरित किया। अन्त में, पंडित मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराज्य की योजना तैयार की गई। दिसम्बर 1929 में कलकत्ता में एक सर्वदलीय सम्मेलन हुआ जिसमें जिन्ना ने मुस्लिम लीग का प्रतिनिधित्व किया था। हिन्दुओं के हितों की आवाज़ बुलन्द करने के लिए एम० आर० जयकर भी उसमें मौजूद थे। योजना की कुछ धाराएं पारित हो जाने के बाद जब केन्द्रीय धारा सभा में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का प्रतिशत तय करने का प्रश्न आया तो सम्मेलन गड़बड़ा गया। हिन्दुओं की ओर से बोलते हुए श्री जयकर मुसलमानों को सिर्फ 25 प्रतिशत देना चाहते थे और श्री जिन्ना ने 30 प्रतिशत का दावा किया। श्रीमती बेसेन्ट के लिए इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था कि यह प्रतिशत 25 हो या 30, क्योंकि आखिर 30 प्रतिशत

से भी तो मुसलमान अल्पमत में ही रहते और इससे स्थिति में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ता। बाद में तो मुस्लिम लीग की मांगें और बढ़ती गईं और जिस मतभेद का केवल एक विषय था उस मतभेद के, आगे चलकर, 14 विषय हो गए और बाद में लन्दन में हुए गोलमेज सम्मेलनों में इन्हीं विषयों को लेकर काफी व्यापक वादविवाद और संघर्ष छिड़ गए। इन सम्मेलनों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रतिनिधित्व केवल गांधीजी ने ही किया था। तत्पश्चात ब्रिटिश सरकार ने लार्ड साइमन की अध्यक्षता में साइमन आयोग गठित किया जिसमें शामिल सभी लोग अंग्रेज थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और राष्ट्रीय होम रूल लीग दोनों ने इस आयोग का बहिष्कार किया। राजनीतिक दलों में परस्पर मतभेदों के बावजूद जिनके कारण भारतीयों द्वारा भारत का 'स्वराज्य संविधान' नहीं बन सका था, श्रीमती बेसेन्ट ने समाचारपत्रों, सार्वजनिक भाषणों और राजनीतिक संस्थाओं के द्वारा अपना अभियान बराबर जारी रखा।

अध्याय 6

अन्तिम वर्ष

भारत को स्वशासन दिलाने के प्रयत्नों की लगातार चिन्ताकुल विफलताओं से भारतीय जनता बुरी तरह खीझ चुकी थी। महात्मा गांधी का प्रभाव ही सर्वोपरि था और भारत का इसके बाद का इतिहास उन्हीं प्रयासों और संघर्षों की कहानी है जो उन्होंने ब्रिटिश सरकार और उसके भारत स्थित प्रतिनिधियों से परस्पर सम्मानपूर्ण समझौते के लिए लड़ा। यह कहानी है उनकी, देखने में, विफलताओं की, पूर्ण स्वशासन की मांग से एक कदम भी पीछे न हटने के उनके आग्रह की और सत्याग्रह तथा अहिंसा के अपने चुने हुए अस्त्रों के द्वारा जनमत उभाड़ने और प्रदर्शित करने के लिए उनके बार बार चलाए गए अभियानों की—लगातार बारबार विफलता मिलने पर भी काफी बड़े पैमाने पर चले मुकदमों, नज़रबन्दियों और कैदों को चरम सीमा पर पहुंचा देने वाले ऐतिहासिक 1942 की जबर्दस्त हलचलों के पहले और बाद के घोर दमन, गिरफ्तारियों और जेलों के बावजूद, वह और उनके भक्त तुल्य निःस्वार्थी अनुयायी अपने पथ से विचलित नहीं हुए।

विश्वयुद्ध और उनसे उत्पन्न अनेक संकट, भारतीय सेना और नौ सैनिकों द्वारा विद्रोह की धमकी, पराधीन लोगों को नागरिक अधिकार देने के पक्ष में बढ़ते हुए जनमत, भारत को स्वतंत्र करने में इंगलैण्ड की विफलता पर अमेरिका की स्पष्ट नाराजगी और सबसे अधिक, भारत की उस असंख्य जनता का सच्चा आत्म-त्याग जिसके विचारों तथा व्यवहार में गांधीजी के जीवन और उदाहरण ने तरह-तरह की अड़चनों और तकलीफों के बावजूद एक जबर्दस्त एकता पैदा कर दी थी—इन सबके साथ-साथ अन्त में एक दिन ग्रेट ब्रिटेन की मौलिक राजनीतिक प्रौढ़ता और 'देर आयद, दुरुस्त आयद' की कहावत को चरितार्थ करने वाले अद्भुत एवं कीर्ति योग्य पुर्नविचार के परिणामस्वरूप एक समझौता हो गया जिससे ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के भीतर भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता मिल गई। यही वह लक्ष्य था जिसके लिए डॉ० बेसेन्ट ने कोशिशें कीं, तकलीफ़ें सहीं और संघर्ष किया लेकिन इसी के चरम

उत्कर्ष को स्वयं अपनी आंखों से देखने के लिए जिन्दा नहीं रहीं क्योंकि 1931 और 1932 के गोलमेज सम्मेलनों से उत्पन्न निराशा के बाद उनका स्वास्थ्य बराबर बिगड़ता ही गया और अन्त में 1933 में उनका देहान्त हो गया।

धीरे-धीरे स्वास्थ्य गिरते रहने पर भी भारत और उसके भाग्य (भविष्य) पर उनका विश्वास ज़रा भी डगमगाया नहीं और जिन व्यक्तियों या आदर्शों से उन्हें गहरा प्रेम रहा था उनके प्रति न तो उनकी उदार भावनाओं में कोई अन्तर आया, न उनकी प्रशान्तता में कोई कमी हुई और न उनके सामान्य स्वभाव में ही किसी प्रकार की कड़वाहट आई। जैसा कि वर्तमान लेखक ने 'ऐनी बेसेन्ट सेन्टीनरी बुक' (ऐनी बेसेन्ट शताब्दी ग्रंथ) में कहा था, "मैं 1928 से 1933 तक के काल के बारे में कुछ शब्द कहना चाहूंगा क्योंकि मेरे विचार से इन वर्षों में हमे उनकी आत्मा (Spirit) का विशेष रूप से परिचय मिलता है। यदि सौभाग्य से हमें सफलता मिलती है तो हममें कुछ सहज एवं अनुकूल सद्गुणों का होना और उन्हें प्रमाणित तथा प्रदर्शित करना भी आसान होता है। लेकिन जो व्यक्ति झूठे आरोपों और निन्दा-अपवादों से घिरा रहता हो, उसके लिए यह कठिन है कि हर मौके पर सुशील, सन्तोषी, क्षमाशील बना रहे और मुद्दत तक पीड़ाएं सहते हुए भी भविष्य के प्रति आशावान बना रहे। इन दिनों अक्सर ही श्रीमती बेसेन्ट के निकट आनेवालों में से एक होने के कारण, मैं कह सकता हूं कि मैंने कभी भी उनके चेहरे पर भिन्नता या तीखेपन का एक निशान तक नहीं देखा और न उनकी जुबान से एक भी प्रतिशोधात्मक शब्द सुना। वह अक्सर कहा करती थीं 'यह ऐसे दिन हैं जिनसे होकर भारत को गुजरना ही है। इन वर्तमान अड़चनों को पार करके इसको वह सब कुछ मिलेगा जिसका वह हकदार है। मैंने अपना काम कर दिया, लेकिन अब दूसरों को उसे पूरा करना चाहिए।'

अपने जीवन के 47वें वर्ष में डॉ० बेसेन्ट भारत आई थीं और उसे अपनी मातृभूमि के रूप में ग्रहण कर लिया था। सबसे पहले उन्होंने भारत के पुनरुत्थान कार्य के धार्मिक, दार्शनिक और बौद्धिक पक्षों को लिया। उसके बाद उन्होंने हिन्दू संस्कृति के प्रेरणाकेन्द्र के रूप में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की स्थापना की जिसने आगे चलकर हिन्दू विश्वविद्यालय की आधारशिला का काम किया। हिन्दू सामाजिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों में सुधार करने के लिए एक आध्यात्मिक आधार प्रदान किया। इसके पश्चात उन्होंने नए भारत में महिलाओं की भूमिका पर जोर दिया। स्वदेशी उद्यम को प्रोत्साहन देने वाले सर्वप्रथम लोगों में वह एक थीं। दलित जातियों

के लिए उन्होंने अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया। भारत में स्काउट आन्दोलन सबसे पहले संगठित और विकसित करने का श्रेय उन्हीं को था। उनका विश्वास था कि जब तक भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं मिलेगी तब तक उसको किसी बात में न तो प्रामाणिकता होगी न अधिकारीपन।

डॉ० बेसेन्ट के नेतृत्व के गुणों के बारे में बहुत कुछ कहा गया है: उन्हें कैसे निर्दिष्ट किया जाता था और कैसे प्रयोग में लाया जाता था। जबर्दस्ती या अपने समकालीनों पर पहले से खूब सोच विचार करके प्रभाव डाल कर नहीं, बल्कि अपने लिए और अपने साथ काम करने वालों से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करके अर्थात् उनके साथ एकदम घुलमिल कर, अपने को उन्हीं में से एक समझकर वह काम करती थीं। वह स्वयं अपने को तो भूली ही रहती थीं और अपने साथियों, सहयोगियों और अनुयायियों के प्रति अधिक-से-अधिक वफादार रहती थीं और यह वफादारी कभी टूटती नहीं, बराबर जारी रहती थी, ऐसे लोगों के प्रति भी जो उनका साथ छोड़ देते थे या उनके प्रति बेवफा भी हो जाते थे। जैसा कि सर्वविदित है, जिन लोगों से उनके मतभेद होते थे उनकी नियत पर वह कभी कोई शक नहीं करती थीं, कोई आरोप नहीं लगाती थीं, यहां तक कि एक बार जब महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध भारतीय राजनीतिक नेता ने घोषणा की कि कोई भी विदेशी भारत के प्रति सच्चा नहीं रह सकता है और डॉ० बेसेन्ट की पूतना से तुलना की जिसने श्रीकृष्ण को विष मिला दूध दिया था, तो उन्होंने उससे भी कभी घृणा नहीं की बल्कि बाद में उसी व्यक्ति और उसके नेता, महान बाल गंगाधर तिलक के साथ भी सहयोग करने को राजी हो गईं, जिन्होंने भी उनकी बड़ी कटु आलोचना की थी।

कुछ ऐसे लोग थे जो उनके व्यापार सम्बन्धी कार्यों का इन्तजाम करते थे और रुपये पैसे के मामलों में इतने लापरवाह थे कि उन पर बदनियती का भी शक किया जा सकता था। जब डॉ० बेसेन्ट को उनके कुछ सहयोगियों और मित्रों ने ऐसे लोगों के विरुद्ध आगाह किया तो उन्होंने सिर्फ यही नहीं किया कि उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की बल्कि जब उनको यह मालूम हुआ कि उनकी कुछ रकमों के बारे में इसका कोई पता नहीं कि वह किस काम में खर्च हुई थीं, तो उन्होंने उन रकमों को बट्टे-खाते में डाल दिया और इसके बाद कभी भी उन लोगों के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जिन्होंने वह गलती की थी।

एक बार जब उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया था तो डॉ० भगवानदास, प्रोफेसर जी० एन० चक्रवर्ती और कुछ अन्य लोगों ने जो थियोसाफिस्ट कार्यकर्त्ताओं की अन्तरंग मण्डली में होने के साथ-साथ दीक्षा विभाग के भी सदस्य थे, उनकी अत्यन्त कड़ी आलोचना की थी। लेकिन, जैसा कि बाद में डॉ० भगवानदास ने स्वयं स्वीकार किया है, उन्होंने (डॉ० बेसेन्ट ने) अपने मुंह से कभी एक कटु शब्द नहीं निकाला और न उसमें से किसी के विरुद्ध कभी कोई सख्त निर्णय ही दिया।

दूसरों के दृष्टिकोण के मूल्यांकन और अपने निर्णय की उदारता में डॉ० बेसेन्ट अद्वितीय थीं। लेकिन इसके साथ-साथ धन के प्रति उनकी उपेक्षा-भावना भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी, हां सुख समृद्धि की प्राप्ति और कल्याणकार्य की पूर्ति के लिए उसके साधन-रूप को छोड़ कर। उन्होंने हमेशा इस सिद्धान्त पर अमल किया कि हर वर्ष उन्हें जो रुपये मिलते उन्हें छात्रवृत्तियों, योग्य संस्थाओं को चन्दे तथा दान-उपहार में बांट देतीं। दुनिया भर में उनके ऐसे बहुत से प्रशंसक थे जो उनके स्वेच्छापूर्वक खर्च करने के लिए उन्हें बराबर रुपये भेजा करते थे। ऐसे लोगों में विश्व भर में फैले हुए बहुत से लखपति, उद्योगपति और व्यापारी थे। उन्हीं में से एक थीं कुमारी डाज जिन्हें तांबे की बड़ी-बड़ी खाने विरासत में मिली थीं और जो उन्हें समय-समय पर काफी रकमें भेजा करती थीं। इस पुस्तक के लेखक को व्यक्तिगत रूप से मालूम है कि आमतौर पर प्रत्येक वर्ष के अन्त में डॉ० बेसेन्ट किन-किन कामों के लिए उन सभी बैंकों के नाम चेकें जारी करती थीं जिनमें उनके नाम रुपया जमा होता था और स्वयं अपना खाता बिलकुल खाली कर देती थीं। उदाहरण के लिए, मद्रास में वाई० एम० आई० ए० की इमारत बनवाने, दर्जनों छात्रों को इंगलैण्ड और अमेरिका में अपनी विश्वविद्यालय शिक्षा पूरी करने, साप्ताहिक 'कामनवील' और दैनिक 'न्यू इण्डिया' को चलाने और सामान्यत: होम रूल लीग का खर्च चलाने के लिए लगातार दो-तीन साल के भीतर उन्होंने दस लाख से अधिक रुपयों के चेक जारी किए थे। इस प्रकार तमाम-की-तमाम रकम बांट देने पर भी उनके लिए लोगों की इतनी वफादारी, श्रद्धा और निष्ठा थी कि 1914 से 1931 तक करीब-करीब हर वर्ष दुनिया भर में फैले हुए भिन्न-भिन्न लोगों से उन्हें कई लाख रुपये मिला करते थे। वह हमेशा कहा करती थीं कि "अगर तुम धन को सम्पत्ति नहीं बल्कि सेवा करने का एक साधन समझो, तो तुम्हें रुपये की कभी कमी नहीं होगी।"

दूसरों की आलोचना करने और उन पर निर्णय देने में इतनी उदार और रुपये पैसे के मामलों में इतनी शाहदिल होने के अतिरिक्त वह एक अत्यन्त सुघड़ मेहमाननिवाज़ भी थीं और जो लोग उनके लिए या उनके साथ काम करते थे उनका वह बिलकुल मातृवत् ध्यान रखती थीं। थियोसाफिकल आन्दोलन या होम रूल लीग के कार्यकर्त्ता जब उनके साथ देश के विभिन्न भागों की रेल यात्रा किया करते थे तो रास्ते में वह स्वयं अपने हाथों से उनके लिए कॉफ़ी (कहवा) और सैण्डविच बनाती थीं और उनके रहने ठहरने तथा शारीरिक सुविधाओं आदि की ज़रा-ज़रा-सी बात का ध्यान रखती थीं। धार्मिक, शैक्षिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उनके लिए काम करने वाले लोगों के नए-नए समूहों के पास वह हमेशा खड़ी रहती थीं जैसे उस समय और उस जगह वह ही उनकी माता-पिता हों। श्रीमती बेसेन्ट के बाद थियोसाफिकल सोसायटी के अध्यक्ष महान शिक्षाविद् तथा सामाजिक कार्यकर्त्ता जार्ज एस० आरुण्डेल, बौद्ध विद्वान एवं लेखक सी० जिनराजदास जिन की शिक्षा में श्रीमती बेसेन्ट और लेडबीटर ने बड़ी मदद की थी, महान संस्कृत विद्वान, लेखक और सामाजिक कार्यकर्त्ता डॉ० भगवानदास जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में उनका साथ दिया और जिनकी सहायता से उन्होंने भगवद्गीता तथा अन्य ग्रन्थों का अनुवाद किया था, गम्भीर दार्शनिक और थियोसाफिस्ट नेता जी० एन० चक्रवर्ती, बम्बई के प्रसिद्ध न्यायाधीश तेलंग के दोनों पुत्र—ये सभी डॉ० बेसेन्ट के बड़े निकट और अनुरक्त सहयोगी एवं अनुयायी थे। अत्यन्त जोशीले बी० पी० वाडिया जो अपनी युवावस्था में ही उनके साथ हो गए थे और बाद में जिन्होंने मजदूर आन्दोलन तथा होम रूल लीग के कार्यों का नेतृत्व किया था और पत्रकारिता के काम में भी उनके सहयोगी थे, त्रिलोककर, संजीव राव, इकबाल नारायण गुर्टू और बहुत से वे अन्य लोग जिन्होंने डॉ० बेसेन्ट और जार्ज आरुण्डेल के निर्देशन में शिक्षा के क्षेत्र में बहुत काम किया—ये हैं कुछ उन लोगों के नाम जिन सबको मिलाकर हम, एक तरह से, डॉ० बेसेन्ट का परिवार कह सकते हैं और जिन्हें उन्होंने प्रोत्साहन दिया, रास्ता दिखाया, सहारा दिया और जिनका अच्छे-बुरे सभी दिनों में, कठिन-से-कठिन और पेचीदा-से-पेचीदा परिस्थिति में भी साथ दिया। इसी प्रकार कुकारी डाज, श्रीमती ब्राइट और श्री ग्रैहमपोल उन लोगों में थे जो विभिन्न कामों में डॉ० बेसेन्ट का अनुकरण करते और साथ देते थे।

1924 में लन्दन के क्वीन्स हाल में उनके सम्मान में हुई एक सभा में रैम्जे मैकडोनल्ड, लार्ड हाल्डेन, लार्ड बैडेन-पावेल, बेन टर्नर, फिलिप स्नोडेन, हैडेनगेस्ट,

श्रीमती पेथिक-लारेन्स आदि ऐसे व्यक्तियों द्वारा उन्हें दी गई श्रद्धांजलियों के उत्तर में डॉ० बेसेन्ट ने कहा था कि :

"आज रात कुछ लोग श्रम के बारे में बोले हैं और कुछ त्याग और बलिदान के बारे में। लेकिन मैं नहीं कह सकती कि क्या आप सब लोग यह जानते हैं—जैसा कि अब बूढ़ी हो जाने पर मैं जानती हूं—कि किसी महान उद्देश्य के लिए त्याग करने में जो आनन्द मिलता है उससे बढ़कर कोई अन्य आनन्द नहीं होता है, उसमें किसी प्रकार का कोई दुख नहीं बल्कि एक ऐसे परमसुख का अनुभव होता है जो अपने स्वयं से भी कहीं श्रेष्ठ किसी चीज के लिए काम करने से मिलता है…उस ईश्वर के लिए करने से मिलता है जो हमारे भीतर ही अपने को प्रकट करता है, जो अपनी कीर्ति एवं यश के प्रति हमारी आंखें बन्द होने पर भी हमें आगे बढ़ाता है, सिर्फ वही, मात्र वही काम करने वाला है, सिर्फ वही त्याग है, हमारे दिलों में रहकर सेवा भाव की सिर्फ वही प्रेरणा है, और ज्योंही हम यह जान जाते हैं कि यह सत्य है त्योंही हम यह भी जान जाते हैं कि हमारे शरीर, हमारे मस्तिष्क, हमारे हृदय जितने भी काम करते हैं, उनमें से कोई भी काम हमारा काम नहीं है, क्योंकि सभी काम सिर्फ उसीके काम हैं और उसके अतिरिक्त कोई अन्य नहीं। और तब हम अनुभव करते हैं कि हम जो कुछ करते हैं उसमें उसी की शक्ति है और वह अपनी शक्ति में कभी भी कम अथवा कमजोर नहीं है। और मैं आप में से हर एक से कहूंगी कि वह शक्ति स्वयं आपके भीतर वास करती है, वह शक्ति दिव्य आत्मा की ही शक्ति है और यह शरीर जीवित ईश्वर का मात्र मन्दिर है।"

ये वाक्य उनके अन्तिम दिनों के जीवन-दर्शन का सार है और उनकी जीवन-कथा का प्रेरक अन्त।

●

अध्याय 7

कुछ संस्मृतियां

पिछले पृष्ठों में डॉ० बेसेन्ट के जीवन का जो रेखाचित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें उनके जीवन और अद्भुत चरित्र से सम्बन्धित विचारों तथा घटनाओं की प्रमुख धाराओं का ही उल्लेख किया गया है। लेकिन अगर उनकी जीवन-यात्रा को प्रसिद्ध करने वाले अनेकानेक कार्यों का एक संक्षिप्त वर्णन न दिया जाए तो यह पुस्तक अपने में पूर्ण नहीं होगी। इसलिए, इस अध्याय में मैंने देश-विदेश के कुछ ऐसे लोगों से प्राप्त व्यक्तिगत संस्मृतियां सम्मिलित कर दी हैं जो उनके सहयोगी और प्रशंसक रह चुके हैं, जिन्होंने उनके किसी एक या अनेक कार्यों में भाग लिया था या फिर विभिन्न क्षेत्रों में की गई उनकी सेवाओं के साक्षी रहे हैं क्योंकि उनका कार्यक्षेत्र अतिव्यापक रहा है—यदि एक ओर उन्होंने बालचरों (स्काउट्स) और बुलबुलों (गर्ल गाइड्स) के आन्दोलन का संगठन किया, तो दूसरी ओर श्रीमती रुक्मिणी देवी को पहले रूसी बैले नृत्य और बाद में शास्त्रीय भरत नाट्यम के अध्ययन और अभ्यास के लिए प्रेरित किया। इन संस्मृतियों और रेखा-चित्रों से पता चलेगा कि डॉ० बेसेन्ट की कितने-कितने प्रकार की रुचियां थीं और विभिन्न दिशाओं में उन्होंने किन नए-नए कामों की कोशिश की और किया भी जो भारत के सर्वांगीण—सांस्कृतिक, शैक्षिक और राजनीतिक और सबको मिलाकर अंत में आध्यात्मिक एवं धार्मिक—पुनर्जागरण के उनके व्यापक कार्यक्रम के अंग थे।

इस पुस्तक के लेखक की उनसे सर्वप्रथम भेंट बीसवीं सदी के प्रथम दशक में हुई थी। उस समय तक वह भारत को अपना घर बना चुकी थीं और भारतीय वेशभूषा तथा भारतीय रहन-सहन की अनेक अन्य बातें अपना चुकी थीं। एक रेशमी साड़ी और एक कढ़ा हुआ शाल उनकी पोशाक के मुख्य अंग थे और साठ वर्ष से ऊपर की हो जाने पर भी उनके चेहरे पर किसी प्रभावशाली और रौबदार व्यक्तित्व के लक्षण स्पष्ट थे। उनके सिर के बारे में कहा गया है कि वह शेरनी की तरह का था

और उनकी आत्म-विश्वस्त गम्भीरता तो उनके पूरे शरीर की एक असाधारण विशेषता थी।

भाषण देते समय वह भाव-प्रदर्शन नहीं करती थीं, और उनके प्रभाव का असली आधार थी उनकी वाणी; बोलते समय उनमें अपने सामर्थ्य का जो संयत भाव रहता था या उनकी आवाज में जो गूंज थी, उसमें उनका कोई दूसरा मुकाबला नहीं कर सकता था। सार्वजनिक सभाओं में जब वह भाषण देती थीं तो पूर्वनिश्चित समय में एक मिनट की भी देरी किए बिना वह मंच पर पहुंच जाती थीं और, सामान्यतः वह अपना भाषण ठीक एक घण्टे बाद समाप्त कर देती थीं। आरम्भ में वह बड़ी धीमी आवाज से बोलना शुरू करती थीं लेकिन धीरे-धीरे आवाज ऊंची होती जाती थी और इस ऊंचे स्वर से जो गूंज होती थी उसी पर एक बार श्री ग्लैड्स्टन ने कहा था उनका मुकाबला केवल एक यूरोपीय वक्ता कर सकता है और वह है स्पेन के श्री कैस्टेलर। उनके शब्दों की शहनाई को तरह की गूंज ऐसी थी कि उस जमाने में भी जब कि लाउडस्पीकर और माइक्रोफोन आदि का नामोनिशान भी नहीं था, 5,000 से भी अधिक भीड़ आसानी से उन्हें सुन सकती थी और फिर भी स्वयं उन्हें अपनी आवाज पर बल देने की कोई जरूरत नहीं पड़ती थी। तालमय और गूंजती हुई होने के कारण वह काफी बड़े हाल के हर भाग तक छा जाती थी। आरम्भ करने के ठीक 52-53 मिनट बाद वह अपने भाषण का उपसंहार शुरू करती थीं जिसकी वक्तृता और सामग्री दोनों बड़े ऊंचे स्तर की होती थी। भाषण की समाप्ति पर वह उतने ही शांति-पूर्वक बैठ जातीं, जितने शांतिपूर्वक उन्होंने हाल में प्रवेश किया था। जिन दिनों वह इंगलैण्ड तथा भारत को अदालतों में अपने मुकदमों की स्वयं वकालत करती थीं या जब वह राजनीतिक अथवा धार्मिक विषयों पर बोलती थीं तो उनकी बातों की सामग्री और उन्हें प्रस्तुत करने के ढंग दोनों में श्रोता को पूरी तरह से संतुष्ट करने की जो शक्ति उनमें थी उसकी बराबरी नहीं की जा सकती। जब भी वह किसी सार्वजनिक स्थान में कुछ बोलती थीं तो उनके चेहरे और व्यवहार दोनों में एक विशेष प्रकार की निमग्नता और अनिवार्यता रहती थी।

सामाजिक जीवन में चाहे वह अपने मित्रों के बीच हों चाहे अनुयाइयों के बीच, वह हमेशा एक प्रसन्न आतिथेय का काम करती थीं। छोटी-मोटी बैठकों में जहां परस्पर-निकटता का वातावरण होता, वहां उनका एक बिलकुल ही भिन्न व्यक्तित्व देखने में आता—गतिशील गम्भीर सार्वजनिक नेता एक बिलकुल सरल-सहज और

उत्साही कामरेड हो जाता, जो दूसरों को अधिकाधिक प्रसन्न करने के लिए व्याकुल रहता और स्वयं बड़ी आसानी से प्रसन्न हो जाता, सार्वजनिक अवसरों पर उनके चेहरे और विशेषत: आंखों में जो दृढ़ता रहती वह गायब हो जाती और उसकी जगह एक आकर्षक कोमलता ले लेती। फिर भी न उन्हें कोई आसानी से हँसा सकता था और न उनके स्वभाव में ही हँसी-मजाक के लिए कोई खास स्थान था। जैसा कि उनके एक समसामयिक आलोचक ने कहा है, "वह बड़ी गम्भीर एवं गर्वीली हो सकती हैं और प्रसन्न एवं विनीत भी; लेकिन वह हँस नहीं सकती थीं, उन्हें हँसना आता ही नहीं था और न वह सामाजिक अथवा सामूहिक बातचीत के हल्के-फुल्के पक्षों को समझ ही सकती थीं।"

श्रीमती बेसेन्ट के आरम्भिक दिनों के सम्बन्ध में श्री आर्थर नीदरकोट ने अभी हाल में 'द फर्स्ट फाइव लाइफज़ आफ ऐनी बेसेन्ट' (ऐनी बेसेन्ट के प्रथम पांच जीवन) के नाम से जो जीवनी लिखी है, वह है तो काफी प्रमाणपूर्ण, लेकिन लिटन स्ट्रैची की लेखन-विधि का अनुकरण करते हुए लेखक ने विभिन्न घटनाओं और आचरणों के आधार पर जो प्रासाद-खड़ा किया है वह सहानुभूतिपूर्ण और ग्राह्य न होकर संशयपूर्ण और अनुदार है। उनकी (श्रीमती बेसेन्ट की) अनेक मित्रताओं के विश्लेषण में लेखक की प्रवृत्ति फायडवादी है, यद्यपि उसने—जैसा कि बर्नार्ड शा से श्रीमती बेसेन्ट के सम्बन्धों के बारे में—उन्हें सभी आरोपों से मुक्त कर दिया है। श्री वी० एस० प्रिचेट ने श्री नीदरकोट की पुस्तक की समालोचना करते हुए 'न्यू स्टेट्समैन' में लिखा है :

> हम यह भूल जाते हैं कि आज जिन स्वतंत्रताओं को हम लोग बिलकुल सही, स्वाभाविक और निश्चित मान बैठे हैं, उनके लिए पादरियों, न्यायाधीशों और राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को क्या-क्या मारें सहनी पड़ीं, क्या-क्या दंगे हुए, सार्वजनिक सभाएं हुईं, एक से एक झगड़ालू भाषण और साम्प्रदायिक झगड़े हुए। इन सब घटनाओं में ऐनी बेसेन्ट ने जो थोड़ा-सा भाग लिया है—बीस साल से भी कम समय तक—उसके लिए हमें उनका आदर करना चाहिए। लेकिन आखिर वह क्या था जिसके कारण उस युवती अतिदुखी धार्मिक, सुन्दर, अति-औपचारिक, एक संकीर्ण ग्रामीण पादरी की उच्चवर्गीय भद्रमहिला के समान युवापत्नी को यह कुख्यात जीवन अपनाना पड़ा? कुछ का विचार है कि चूंकि बाल्यावस्था में वह आवश्यकता से अधिक धार्मिक थी इसलिए वह बाद में

नास्तिक हो गई; इसमें कोई शक नहीं कि यौन-आघात से उन्हें घर छोड़ने और अपने लिए स्वयं सोचने तथा अपने बचाव की व्यवस्था स्वयं करने के लिए मजबूर होना पड़ा।

उनके शुरू के चित्र (फोटो) कुछ और भी बताते हैं। एक स्त्री के रूप में उनकी सुन्दरता लड़कों जैसी है। यद्यपि उनकी आकृति आकर्षक है, फिर भी उसमें दृढ़ता और जिद के लक्षण भी स्पष्ट हैं; आंखें भरी हुई हैं, लेकिन संकल्प से, न कि कामुकता से।

'स्वतंत्र विचार' आन्दोलन जब अपनी चरमावस्था पर था तब अंग्रेजी के कवि गेराल्ड मैसी ने उनकी प्रशंसा में यह कविता लिखी थी :

तुम बोती हो अनाज औरों के लिए,
फिर पकाने के लिए आंसू भी बहाती हो,
और जब फसल खिल कर खिलखिलाती है,
औरों की हो जाती है।
तुम्हारी एक आत्मा
सातों के लिए काफी है;
तुम्हारा एक जीवन
सारी पृथ्वी को उफानने,
जननी बनाने के लिए काफी है;
तुम्हारा जिसे प्यार मिला,
स्वर्ग मिला;
ईश्वर के इनेगिने विश्वस्तों में,
सचमुच सच्चों में,
वीरों में,
तुम मानो, न जानो,
ऐनी बेसेन्ट, पर एक हो।

सुप्रसिद्ध सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं और डॉ० बेसेन्ट के अनुयायी, श्री कानजी द्वारकादास ने 1917 के बाद के उनके राजनीतिक कार्यों पर, जिनमें उन्होंने उनके साथी की हैसियत से सक्रिय भाग लिया था, इस प्रकार लिखा :

जून 1917 में जब ऐनी बेसेन्ट को मद्रास सरकार ने कोयम्बटूर में नजरबन्द कर दिया, तो उमर सोबानी, शंकरलाल बैंकर, इन्दुलाल याज्ञिक, जमनादास द्वारका-

दास और मैंने गांधीजी से श्रीमती बेसेन्ट की रिहाई के लिए मदद करने को कहा। गांधीजी ने देश में तब सत्याग्रह और भारत के कष्टों की बातचीत सबसे पहली बार शुरू की थी। उन्होने हम लोगों से बम्बई से कोयम्बटूर तक (करीब 1000 मील) पैदल जाने के लिए बिलकुल पक्के और वफ़ादार 100 स्वयंसेवक इकट्ठा करने को कहा और बोले कि इससे उनकी रिहाई में सहायता मिलेगी। इस प्रकार के राजनीतिक कार्य के बारे में हमें बहुत शक था और फिर इसके आगे कुछ बना नहीं। श्रीमती बेसेन्ट की नजरबन्दी ने भारत के राजनीतिक जीवन को झकझोर दिया और जून 1917 में देश की जागृति ने व्यापक रूप ले लिया। देश भर में हजारों लोग होम रूल लीग में शामिल हो गए जिनमें मोतीलाल नेहरू, तेज बहादुर सप्रू और ए० ए० जिन्ना के नाम सबसे प्रमुख थे।

मद्रास के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश और थियोसाफिकल सोसायटी के उपाध्यक्ष, डॉ० सुब्रह्मण्य अय्यर ने (अमेरिकी) राष्ट्रपति विल्सन को एक पत्र लिखा जो कड़े सरकारी प्रतिबन्धों के बावजूद छिपा कर भेजा गया। डॉ० सुब्रह्मण्य अय्यर ने राष्ट्रपति विल्सन का ध्यान भारत में अंग्रेजी कुशासन की ओर आकर्षित किया था। राष्ट्रपति विल्सन ने इस पत्र पर तुरन्त कार्रवाई की और ब्रिटिश प्रधान मंत्री, लायड जार्ज को भारत की स्थिति समझाने के लिए लिखा। इसका वही परिणाम हुआ जिसकी इच्छा थी और भारतीय जनमत के साथ-साथ विश्व जनमत ने ब्रिटिश सरकार को मजबूर कर दिया कि वह डॉ० बेसेन्ट को रिहा कर दे। उन्होंने भारत को विश्व के नक्शे पर ला दिया और (ब्रिटिश सरकार के) भारत सचिव, मान्टेगू, भारत सरकार के भविष्य के बारे में भारतीय नेताओं से विचारविमर्श करने के लिए भारत आए।

वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड, का आग्रह था कि मान्टेगू भारतीय नेताओं से अकेले न मिलें बल्कि वह और चेम्सफोर्ड एक साथ उनसे मिलें।

लेकिन मान्टेगू ने इस कठिनाई से बचने का एक रास्ता निकाल लिया। मान्टेगू के साथ-साथ उनकी सहायतार्थ संसद सदस्य चार्ल्स राबर्ट्स भी आए थे। उन्होंने (चार्ल्स राबर्ट्स ने) श्रीमती बेसेन्ट को मिलने के लिए बुलाया। जब वह उनके घर गईं और उनसे बस हाथ मिलाकर बैठीं भर थीं कि इतने में ही मान्टेगू वहां आ गए जैसे यह अकस्मात ही हुआ हो। चार्ल्स राबर्ट्स तुरंत कमरे से बाहर चले गए और मान्टेगू ने ऐनी बेसेन्ट से एक घण्टे से भी अधिक बातचीत की।

1921 में बम्बई में लार्ड रीडिंग से मिलनेवाले गैर-सरकारी लोगों में ऐनी बेसेन्ट सर्वप्रथम थी। लार्ड रीडिंग ने विशेष रूप से सुझाव दिया था कि जिस दिन वह अपने पद का कार्य-भार संभालें, उसी दिन वह (श्रीमती बेसेन्ट) उनसे मिलें और वह अडयार से उनसे मिलने आई थीं। बम्बई के गवर्नमेण्ट हाउस में लार्ड रीडिंग से बात-चीत करके लौटने के तुरन्त बाद ही मैंने उनके साथ दोपहर का खाना खाया था। लार्ड रीडिंग ने उनसे कहा था कि ब्रिटिश सरकार और लायड जार्ज (प्रधान मंत्री) की ओर से उन्हें खुली छूट मिली है और भारत से राजनीतिक मामले तय करने के लिए उन्हें पूरा अधिकार प्राप्त है और उन्हें आशा है कि वायसराय की हैसियत से अपना पंचवर्षीय कार्य-काल समाप्त करने से पहले ही भारत खुश और संतुष्ट हो जाए। लार्ड रीडिंग के विचार से (उस समय) भारत के मुख्य राजनीतिक संकट का कारण अमृतसर (जलियांवाला बाग) के कत्लेआम और उपद्रव थे और उन्होने श्रीमती बेसेन्ट से कहा था कि माइकल ओ डायर और जेनरल डायर ने जो कुछ किया है उसके बदले में वह जो कुछ भी कर सकते हैं वह करेंगे। रीडिंग ने भारत में हालत सुधारने और सब मामले ठीक करने में ऐनी बेसेन्ट से मदद करने को कहा।

गांधीजी लार्ड रीडिंग से चार बार मिले और कुल 14 घण्टे बातचीत की। कांग्रेस अध्यक्ष लाला लाजपतराय ने उनसे चार घण्टे बातें कीं और श्रीमती बेसेन्ट ने डेढ़ घण्टे। लार्ड रीडिंग ने गांधीजी से हुई अपनी बातों के बारे में श्रीमती बेसेन्ट को बतलाया।

1923 तक श्रीमती बेसेन्ट भारत राष्ट्रमण्डल विधेयक (कामनवेल्थ आफ इण्डिया बिल) का मसौदा तैयार करने के लिए एक राष्ट्रीय सम्मेलन करने के बारे में सोच चुकी थीं। 1946 की विधान निर्मातृ परिषद ने भारत का संविधान बनाने का जो काम किया वह 1923 में ऐनी बेसेन्ट द्वारा दिए गए सुझावों पर ही आधारित था।

1925 की 24 जनवरी को श्रीमती बेसेन्ट ने भारत राष्ट्रमण्डल विधेयक के मसौदे की एक प्रतिलिपि नई दिल्ली में लार्ड रीडिंग को दी थी।

कानपुर में 25 अप्रैल 1925 को हुए राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा पारित भारत राष्ट्रमण्डल विधेयक के मसौदे को श्री आर्थर हेन्डर्सन ने अन्तिम रूप दिया था। श्री हेन्डर्सन, रैम्जे मैक्डोनल्ड के प्रथम मंत्रिमण्डल में विदेश मन्त्री श्री आर्थर हेन्डर्सन के पुत्र थे और 1945 से ऐटली सरकार में भारत उप-सचिव रहे हैं।

यहां पर यह उल्लेखनीय है कि सितम्बर 1920 में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में जब श्रीमती बेसेन्ट ने गांधीजी के असहयोग आन्दोलन सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध किया था तो श्री सी० आर० दास ने उनका समर्थन किया था।

मार्च 1925 में दार्जिलिंग से श्री सी० आर० दास ने श्रीमती बेसेन्ट को मद्रास एक तार भेजा कि वह उनसे मिलना चाहते हैं, बड़ा जरूरी काम है, लेकिन अत्यधिक बीमार होने के कारण वह दार्जिलिंग नहीं छोड़ सकते, इसलिए यदि वह (श्रीमती बेसेन्ट) स्वयं वहां जा सकें तो बड़ी कृपा होगी। तार मिलने के कुछ ही घण्टों बाद श्रीमती बेसेन्ट दार्जिलिंग के लिए चल दीं।

श्री सी० आर० दास ने श्रीमती बेसेन्ट से कहा : "आप ठीक थीं। मैंने मान्टेगू सुधारों को ध्वस्त कर दिया हूं। मैंने लार्ड लिटन को हराकर बंगाल में उनके मन्त्रि-मण्डल को खत्म कर दिया है। मैं जीत तो गया हूं लेकिन जैसा आपने कहा था, मेरी यह जीत नकारात्मक रही। आप बतलाइए कि अब मैं क्या करूं। मैं तो अब एक बन्द गली में फंस गया हूं। कृपा करके आप इससे मुझे निकालिए।" श्रीमती बेसेन्ट ने उत्तर दिया : "आपको इससे यह निकाल देगी और हम लोग मिलकर काम कर सकते हैं।" और उन्होंने भारत राष्ट्रमण्डल विधेयक की एक प्रति उनके हाथ में रख दी। सी० आर० दास ने उस विधेयक का अध्ययन करने का वायदा किया और कहा कि बाद में उन्हें बताएंगे। लेकिन इसके दो महीने के भीतर ही, 15 जून, 1925 को उनका देहान्त हो गया।

जार्ज लैन्सबरी ने (ब्रिटिश) कामन सभा में एक गैर-सरकारी विधेयक के रूप में भारत राष्ट्रमण्डल विधेयक पेश किया और 2 जून, 1928 को सदन में विधेयक की प्रतिलिपि हाथ में लिए हुए रैम्जे मैकडोनल्ड ने भारत राष्ट्रमण्डल विधेयक के महत्व पर जोर देते हुए कहा : "मुझे आशा है कि कुछ वर्षों में नहीं, अपितु कुछ ही महीनों के भीतर हमारे राष्ट्रमण्डल में एक नए डोमीनियन (स्वशासन प्राप्त उपनिवेश) की वृद्धि हो जाएगी, जिस की प्रजाति भिन्न होगी, जिसे राष्ट्रमण्डल के भीतर सबके बराबर आत्म-सम्मान प्राप्त होगा : मेरा मतलब भारत से है।"

युवक नेता तथा यशस्वी शिक्षक, डॉ० जी० एस० अरुण्डेल बनारस तथा अन्य जगहों में डॉ० बेसेन्ट के शिक्षा कार्यों में अत्यन्त निकट सहयोगी थे और उनके बाद थियोसाफिकल सोसायटी के अध्यक्ष भी हुए। उनका कहना है :

श्रामती वेसेन्ट चाहती थीं कि सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज और इस कॉलेज से सम्बन्धित स्कूल के छात्र अच्छे विद्यार्थी बनें। वह चाहती थीं कि वह हर तरह के खेल कूदों में तरक्की करें। लेकिन सबसे अधिक वह यह चाहती थीं कि वे, अच्छे-से-अच्छे अर्थों में, सज्जन बनें···मैं नहीं सोच पा रहा हूं कि जितने दिनों उनका सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज से सम्बन्ध रहा, उतने दिनों में वह उस क्षण से भी अधिक कभी खुश हुई हों जिस क्षण भारत के शिक्षा संचालक ने लिखा था कि कॉलेज तथा स्कूल के छात्रों का आचरण अच्छा है और वे सज्जन हैं···और वह सदा इस पर जोर देती थीं कि अनुग्रह, नम्रता, आदर-सत्कार, मित्रता, दयालुता, सेवा, और जहां पर आवश्यक और लाभकर हो वहां, बलिदान, समझ-बूझ, प्रतिष्ठा, कृपा—ही शिक्षा के आवश्यक विषय हैं, सबसे पहला इन्हीं का स्थान है और शिक्षा के अन्य तत्वों की अपेक्षा इन्हें अधिक महत्त्व मिलना चाहिए।

श्रीमती वेसेन्ट के बारे में यह सही ही कहा गया था कि वह कला की केवल संरक्षक ही नहीं थी, बल्कि वह स्वयं कलात्मक जीवन की प्रतिमूर्ति थीं। वह पहनने को तो सादे कपड़े ही पहनती थीं लेकिन जहां तक उनकी रुचि का सम्बन्ध है वह अपरिमित थी और ज्योंही उन्होंने भारत को अपना घर बनाया था त्योंही भारतीय भोजन, और भारतीय रहन-सहन तथा वेशभूषा अपना ली थी। 'ऐनी बेसेन्ट सेन्टीनरी बुक' में श्रीमती रुक्मिणी देवी ने (जिन के पिता ने, जो डॉ० बेसेन्ट के परम अनुयायी थे, श्री श्रीराम को उनके सुपुर्द किया था और इन्होंने वर्षों तक डॉ० बेसेन्ट के निजी सहायक के रूप में काम किया था और अब थियोसाफिकल सोसायटी के अध्यक्ष हैं, श्रीमती शिवकामू जिन्हें बनारस में डॉ० बेसेन्ट और जार्ज आरुण्डेल ने शिक्षा दी थी और जो बाद में एक प्रसिद्ध डॉक्टर हो गई और श्रीमती रुक्मिणी देवी स्वयं) लिखा :

आज जो मैं कला के लिए काम करती हूं, यह उन्हीं की दी हुई सूझ-बूझ की शिक्षा का परिणाम है। मैं उनके साथ बहुत दिनों रही थी और जब कभी वह किसी भी सुन्दर वस्तु को, चमचमाती रंगीन साड़ी में किसी मजदूरिन को, किसी छोटे से पीतल के बर्तन को या बुनाई-कढ़ाई के किसी काम को देखकर अति आनन्दित हुआ करती थीं तो मैं उन्हें निहारा करती थी। उनके इस आनन्द ने मुझमें भी रोजमर्रा की अनेक चीजें देखने की लालसा पैदा

कर दी और मुझे याद है कि एक दिन हम तीनों—वह, डॉ० आरुण्डेल और मैं, एक साथ टहल रहे थे और एक जगह रुक कर कुछ नहीं तो आधे घण्टे तक नारियल के पेड़ों के लिए पानी खींचते हुए लोगों को देखते रहे। भारतीय मजदूरों की सुन्दर काली-काली आकृतियां मैंने उसी दिन देखी थीं।

आमतौर पर श्रीमती बेसेन्ट को बालरूम का नृत्य या शोर गुल वाला जाज़ नाच-गाना नहीं पसन्द था। उन दिनों भारतीय नारी के नाचने की बात कोई सोच भी नहीं सकता था। कुछ ही दिन पहले मैंने अन्ना पैवलोवा को देखा था और उससे मुझे बड़ी प्रेरणा मिली थी। 1925 में एक बार हम लोग साथ-साथ सफर कर रहे थे। मैंने कहा कि मैं नाचना चाहूंगी। मेरे इर्द-गिर्द बैठे सभी लोगों को एक धक्का सा लगा और उन्होंने कहा, "कैसा विचार है।" वह मुस्कराई और बोली, "मेरा खयाल है कि रुक्मिणी को नाचते हुए देखना बड़ा अच्छा लगेगा।" 1928 में जबकि तब तक मैंने नाचना सीखा भी नहीं था, मुझसे उनके जन्मदिवस पर पहली अक्तूबर के लिए एक विविध मनोरंजन (इस वाक्य का प्रयोग मुझे बहुत नापसन्द है) का कार्यक्रम तैयार करने को कहा गया। वह अपने साथ अपने बहुत से मित्रों को लाई थीं और सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर उनकी बिलकुल बगल में ही बैठे थे। मैंने टेनीसन के 'क्वीन गुइनप्रे' और चीनी विश्व-माता 'क्वान-इह' के एक छोटे से मन्दिर-सम्बन्धी दृश्य का प्रदर्शन किया।

मेरे कला आन्दोलन का श्रीगणेश उनके जन्मदिवस पर हुआ था। मेरे उस कार्यक्रम के कार्ड पर उसमें भाग लेनेवाले पात्रों के नाम और श्रीमती बेसेन्ट का काव्यपाठ छपे थे। उस दिन की अर्थात मेरी पहली आमदनी पशुओं और दीन-गरीबों के लिए दे दी गई क्योंकि उन्हें इनसे और मुझे उनसे प्यार था।

कला के मामले में श्रीमती बेसेन्ट हमेशा मेरी प्रेरणा-स्रोत बनी रहेंगी। सभी महान मूर्तिकार, कवि और चित्रकार, किसी ऐसे व्यक्ति से प्रेरित हुए हैं जो स्वयं कला की प्रतिमूर्ति रहे हैं। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, माता ऐनी बेसेन्ट, मेरी प्रेरक थीं और अब भी हैं, जबकि अन्य लोग मेरे नाचने के विचार पर शंकालु भी थे और दुखी भी, वह प्रसन्न थीं और इस कला में ही उन्हें मेरा भविष्य दीखता था। 1931 में, उनके अन्तिम दिनों के

बहुत निकट, मैंने नृत्य प्रदर्शन का एक कार्यक्रम आयोजित किया था। वह उसमें नहीं आ सकी और बहुत से वे लोग जो आए उन्होंने घोर घृणा प्रकट की। बाद में उन्होंने मुझे बुलवाया और कहा कि वह उसमें नहीं आ सकीं इसका उन्हें बड़ा दुख है और क्या मैं उनके लिए वहीं कमरे में नाच सकती हूं, मैंने वहीं नाचा और इसने मुझे जनमत की कभी भी चिन्ता न करने की प्रेरणा दी। वह कहा करती थीं कि भारत की कला के पुनरुत्थान का भविष्य की महान घटनाओं में स्थान होगा और उन्हें अफसोस था कि उन्हें न तो संगीत आता है न चित्रकारी। लेकिन वह पिआनो अक्सर बजाती थीं और सी० डब्लू० लेडबीटर ने, जिन्होंने उन्हें सुन रखा था, मुझसे कहा कि, "अगर यह महान राजनीतिज्ञ और वक्ता न हुई होतीं तो विश्व की श्रेष्ठतम गायिकाओं, अभिनेत्रियों या पिआनिस्टों में से एक तो होतीं ही" क्योंकि, उनका कहना था, "संगीत के बारे में इनको बहुत ज्ञान है, इनकी आवाज बड़ी सुरीली है और पिआनो पर इनकी उंगलियां जैसी चलती हैं, वह आज के बड़े-से-बड़े पिआनिस्ट का मुकाबला कर सकती हैं।"

कलाकार का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण होता है अन्तःप्रज्ञा। और यह उनके पास जीवन के हर क्षेत्र में था। हम बहुतों को आश्चर्य तो भारतीय संगीत में उनकी रुचि पर था। यद्यपि उसकी शैली या तकनीक का उन्हें अधिक ज्ञान नहीं था, लेकिन जहां तक उसकी आत्मा, उसकी आधारभूत भावना का सम्बन्ध है उसे वह पकड़ लेती थीं। यहां पर यह गिनाना तो असम्भव है कि कला और कलाकारों को उन्होंने किस-किस तरीके से प्रोत्साहित किया। 1916 में जब एलिनोर और कैथलीन एल्डर नामक दो बहनों के यूनानी नृत्य से अड्यार गूंज रहा था तो, मुझे याद है, एक दिन उन्होंने इन दोनों को अपने यहां बुलवाया था जब वे उनके यहां से लौटी तो दोनों के हाथ चांदी के उपहारों से भरे थे। इतने लोगों के जीवन में सौन्दर्य ला देने के लिए वह उनकी बड़ी कृतज्ञ थीं।

1921 में जब श्रीमती बेसेन्ट ने गोखले हाल में '1921 क्लब' की स्थापना की तो उसी में उन्होंने एक कला विभाग भी खोला और उसकी बैठकों में वह नियमपूर्वक भाग लेती थीं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सरोजिनी नायडू, हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, ल्योपोल्ड स्टोकोवस्की और अन्य जैसे विश्व-प्रसिद्ध कलाकारों की तो वह सदा ही उदार आतिथेय बनी रहती थीं,—कवि रवीन्द्र जब कभी तमिलनाडु आते तो लगभग

हमेशा अडयार में ही ठहरते थे। 1924 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में हुई कमला व्याख्यान माला के उनके भाषण तो भारतीय कला और इतिहास की व्याख्या की एक अति उत्तम रचना है। उन्हें चित्रकला की बंगाल शैली के उदय में बड़ी दिलचस्पी थी और हर जगह भारतीय चित्रों की प्रदर्शनियों को प्रोत्साहन और इस दिशा में काम करने वालों को सहायता देती थीं। और इस दिशा में काम करने वालों में उन्होंने मुख्यत: जे० एच० कजिन्स की प्रशंसा की है। इस प्रकार, डॉ० बेसेन्ट भारत में अनेकों कला आन्दोलनों की जननी थीं और स्वयं कलाक्षेत्र की स्थापना का श्रेय उन्हीं को है।

ऐनी बेसेन्ट के धर्म और कला में कोई अन्तर नहीं था। सर्वोच्च के द्रष्टा महान योगी के लिए सौन्दर्य और ज्ञान एक ही होते हैं।

रुक्मिणी ने जब जार्ज एस० आरुण्डेल से विवाह करने का निश्चय किया तो, किसी हद तक, उनके माता-पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ, लेकिन उन्होंने यह समस्या डॉ० बेसेन्ट के सामने रखने और चुपचाप उनका निर्णय मान लेने का फैसला कर लिया। काफी सोच-विचार के पश्चात उन्होंने विवाह के लिए अपना आशीर्वाद दे दिया, और अनेक अन्य मामलों की भांति, इस मामले में भी उन क्षेत्रों द्वारा खुलेआम उनकी कड़ी आलोचना हुई जो एक सोलह वर्षीय किशोरी के एक ऐसे अंग्रेज से ब्याहे जाने को पसन्द नहीं करते थे जो आयु में उससे कहीं बड़ा था। यद्यपि डॉ० बेसेन्ट अपने विश्वासों और कार्यक्रम के बारे में किसी तरह का आडम्बर या प्रदर्शन नहीं करती थीं, फिर भी वह एक व्यावहारिक समाज-सुधारक थीं।

डॉ० बेसेन्ट का जो सम्पर्क डॉ० भगवानदास से था उसके कुछ ऐसे पहलू थे जो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डॉ० भगवानदास कहते हैं :

> जिस क्षण मैंने उन्हें पहली बार देखा था, उसी क्षण से मैंने उन्हें अपनी आध्यात्मिक मां मान लिया था, इसलिए मुझमें उनके लिए गहरा प्रेम और आदर होना ही चाहिए था; लेकिन सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज और थियोसाफिकल सोसायटी की नीति और कार्यों के बारे में 1912-13 में उनके साथ सार्वजनिक रूप से वादविवाद करने का दुर्भाग्य भी मुझे मिला था—इन दोनों ही संस्थाओं में मुझे कार्यकारी पदों की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। जब वादविवाद समाप्त हो गया तो मैंने बड़ी विनम्रतापूर्वक उनसे क्षमा मांगी, अपने मतभेदों के लिए नहीं, बल्कि अपनी किसी बदतमीजी के लिए जो, हो सकता है, बहस के जोश

में इस्तेमाल की गई भाषा में हो गई हो। और उन्होंने पूर्ण क्षमा का मुझे आश्वासन दिया जो, वास्तव में, वह बहुत पहले बिना मेरे मांगे ही उदारतापूर्वक दे चुकी थीं—जो इसी बात से स्पष्ट था कि वादविवाद के दौरान में भी मेरे प्रति उनकी व्यक्तिगत कृपा वैसी ही बनी रही जैसी कभी पहले थी।

एक बार मैं मलेरिया से बड़ा सख्त बीमार पड़ गया था। हमेशा की तरह, वह अनेकानेक कामों में बहुत व्यस्त थीं और, इसके अलावा, गरमी बिताने के लिए वह बनारस से इंगलैण्ड जाने की तैयारी कर रही थीं। एक दिन सुबह-सुबह, रात-भर की मानसिक अस्थिरता के बाद होश में आने पर यह जान कर चकित हो गया कि करीब-करीब पूरी रात उन्होंने मेरी चारपाई के निकट पड़े सोफे पर बैठे-बैठे बिताई, मेरी पत्नी के साथ बारी-बारी से मेरे तुच्छ बेकार के शरीर और मन को सहलाते और दिलासा देते हुए।

बहुत से मामलों में, यहां तक कि शिक्षा के क्षेत्र में भी, मतभेद होने पर भी भारतीय शिक्षा के लिए की गई डॉ० बेसेन्ट की सेवाओं के बारे में पंडित मदनमोहन मालवीय का कहना है कि :

डॉ० ऐनी बेसेन्ट वर्तमान संसार की प्रसिद्ध हस्तियों में से एक थीं। भारत पर उनका एक विशेष ऋण है। उन्होंने शिक्षा के हितों, धर्म के अध्ययन और भारत की स्वतंत्रता के लिए भी, बड़ी मूल्यवान सेवाएं की हैं। अपने सहयोगियों के साथ मिल कर उन्होंने 1898 में बनारस में सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज स्थापित किया और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने में हार्दिक रूप से सहयोग दिया। आरम्भकाल से ही वह विश्वविद्यालय की कोर्ट, काउन्सिल, सिनेट तथा अन्य संस्थाओं की एक अति सम्मानित सदस्य रही थीं। 1921 में उन्हें 'डॉक्टर आफ लेटर्स' की उपाधि देकर विश्वविद्यालय ने स्वयं अपने को सम्मानित किया। अति कृतज्ञता और स्नेह के साथ हम उन्हें स्मरण करते हैं।

मालवीयजी ने जो कुछ कहा है उसके साथ-साथ श्री श्रीनिवास शास्त्री के निम्नलिखित शब्दों को भी ध्यान में रखना चाहिए :

मुझे अच्छी तरह याद है, जैसे वह सब आज ही घटित हुआ हो, कि अपनी अत्यधिक शक्ति से सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज के लिए अथक परिश्रम करके, कार्यकुशलता के एक ऊंचे स्तर पर उसे पहुंचा कर, यह पक्का करके कि उनके महान धार्मिक आदर्शों पर कमोबेश अमल होता रहेगा, उसके लिए अत्यन्त

योग्य और सुसंस्कृत प्राध्यापकों की सेवाएं प्राप्त कर—इस सबके बाद जब बनारस विश्वविद्यालय स्थापित करने का समय आया तो उन्होंने बड़ी शान्ति-पूर्वक यह कॉलेज पंडित मदनमोहन मालवीय को सौंप दिया—यह विश्वास करके कि जो दीपक उन्होंने जलाया था वह उनके हाथों में बराबर जलता रहेगा। जैसा मैं कह चुका हूं, मैं डॉ० बेसेन्ट का अनुयायी नहीं था; मैं तो उन लोगों में से था जो इस देश की राजनीति में उनके प्रवेश को कुछ शक की निगाह से देखते थे। उनकी अपार शक्ति और कार्यक्षमता से लोग पहले से ही परिचित थे। उनके बारे में यह पता था कि वह जिस काम का भी बीड़ा उठा लेती हैं उसे फिर वह एक अति वेगपूर्ण धारा में डाल कर ले चलती हैं ताकि उनकी अत्यधिक शक्ति को उसमें अच्छी तरह बहने को मिले। और हमारे बुजुर्ग लोग, उस जमाने के राजनीतिक नेता, आराम से शान्तिपूर्वक काम करना पसन्द करते थे। इसलिए उन लोगों ने राजनीति में ऐसी महिला के प्रवेश को शक से देखा जो न तो स्वयं आराम करना जानती थी और न अपने साथियों को आराम करने देती थी—और अधिकारियों को तो बिलकुल ही नहीं। अतः जब उन्होंने 'होम रूल लीग' शुरू की तो उन लोगों में बड़ी घबराहट हुई जिनके हाथों में राजनीति का इन्तज़ाम था। उन्होंने कोशिश की कि 'होम रूल लीग' बन ही न पाए और अगर किसी तरह बन भी जाए तो इतनी कमज़ोर और अरोचक हो कि उनकी अपनी गद्दियां सुरक्षित रहें। मुझे मानना पड़ रहा है कि मैंने भी उसको शक की निगाहों से देखा था और जब उन्होंने 'होम रूल लीग' बनाने का काम शुरू किया तो मैंने उसकी स्थापना के विरुद्ध आवाज़ उठाने की हिम्मत की थी। लेकिन 'होम रूल लीग' शुरू हो गई और देश के हर भाग के युवकों में उसने एक नए उत्साह की लहर दौड़ा दी। जब तक वह रही, देश में उसका बोलबाला था, और उसने अच्छी लाभकर और कुशल सेवा की। किसी विदेशी में उनका ऐसा उत्साह होना और अधिक-से-अधिक वर्षों तक जीते रहने की लालसा करना बड़ी आश्चर्यजनक बात थी। लेकिन इसके साथ-साथ उन्होंने भारतीय संस्कृति और दर्शन को समृद्ध करने तथा जिस रूप में धर्म था उसे उससे बनाने के लिए भी उन्होंने बहुत कुछ किया। वह इस देश में एक महान शिक्षक के रूप में रहीं, हज़ारों ने उन्हें बोलते सुना, उनकी रचनाएं पढ़ीं और उनके मुंह

अपने दर्शन के बारे में सुन कर प्रसन्न होते थे—यह सब उनकी महानता और सामर्थ्य की ऐसी प्रशस्ति है जिसका अधिकारी, जहां तक मैं सोच पाता हूं, कोई दूसरा तो है नहीं।

श्री श्रीप्रकाश ने, जो सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज के छात्र थे, डॉ० बेसेन्ट के चरित्र के अन्य पक्ष के बारे में यह विचार प्रकट किए हैं :

श्रीमती बेसेन्ट की एक दूसरी विशेषता जो मेरे मन में बड़ी पक्की तरह जमी हुई है वह यह है कि उनमें केवल लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता ही नहीं थी, बल्कि वह उन्हें अपने अटूट स्नेह के बन्धन में बांधे भी रख सकती थीं। वह किसी मित्र की उपेक्षा कभी नहीं करती थीं। उसकी दुर्बलताओं तथा सीमाओं के बावजूद और यहां तक कि अगर वह अपकारी भी है, तो भी वह उसका साथ नहीं छोड़ती थीं। अपने स्वभाव की इसी उदारता की बदौलत वह बहुत जल्दी दोस्त बना लेती थीं और फिर अपने काम में उन्हें लगाए रखती थीं। जहां तक मेरी स्मरण शक्ति काम देती है, उनकी सफलता का मूल कारण यही था। उन्हें अनेक बड़ी-बड़ी संस्थाएं बनाने में जो सफलता प्राप्त हुई वह इसीलिए कि उनके सभी मित्र और सहयोगी हर समय यह महसूस करते रहते थे कि वे उनका काम कर रहे हैं और वह बराबर उन्हें देखती रहती हैं, उनकी मदद करती रहती हैं, प्रशंसा करती रहती हैं, उन्हें प्रोत्साहित करती रहती हैं। वह हमेशा अपने मित्रों की तारीफ करती रहती थीं, और कुछ भी क्यों न हो जाए, उनके लिए कभी एक अपशब्द भी नहीं कहती और न ही उनके बारे में कोई बुरी बात सोचतीं।

उनके मन पर जिस बात का सबसे पहले और गहरा असर पड़ा होगा, वह यह रही होगी कि यद्यपि जब वह स्वयं हमारे देश में आई थीं तो यहां के चिन्तन और जीवन के प्राचीन नियमों और ढंगों के बारे में उनके मन में पहले से ही बड़ी प्रशंसा थी, वह स्वयं यहां के देवी-देवताओं की गाथाओं और वीरों तथा वीरांगनाओं की कहानियों से भलीभांति परिचित थीं, लेकिन जिन शिक्षित लोगों से वह यहां मिलीं वे सब इन चीजों से बिलकुल अपरिचित ही नहीं थे, बल्कि इनके प्रति उनमें उपेक्षा-भाव भी था। अपनी परम्पराओं की हर पुरानी और पवित्र चीज को वे मात्र अन्धविश्वास और ज्ञानशून्य मूर्खता समझते थे। उनका खयाल था कि स्वयं उनका और उनके देश का भला केवल पश्चिमी

तौर-तरीकों का अनुसरण करके ही हो सकता है। श्रीमती बेसेन्ट ने अपने मन में अवश्य ही सोचा होगा कि शंकावाद और तथाकथित आधुनिकतावाद की आंधी को तुरन्त रोकना चाहिए और लोगों के मन में अपनी परम्पराओं का ज्ञान और अपने पूर्वजों की महान सफलताओं के प्रति प्रेम फिर से पैदा किया जाना चाहिए ताकि इनमें अभिमान और आत्म-सम्मान की वह भावना आ सके जो किसी भी राष्ट्र को महान बनाने के लिए अनिवार्य होती है।

उन्हें जो दूसरी चीज़ अवश्य खटकी होगी वह यह थी कि जबकि एक ओर जो लोग अपने को पढ़ा-लिखा समझते थे वे पश्चिमी लोगों की सस्ती नकल कर रहे थे और उन्हीं के तौर-तरीके अपना रहे थे, तो दूसरी ओर, समाज में काफी महत्वपूर्ण ऐसे तत्व भी थे जिन्हें रूढ़िवादी कहा जा सकता है और जो इस घटना-प्रवाह से भयभीत थे और जो वास्तव में मैदान से भाग कर अपने मन की दुनिया में यह सोच कर छिपते जा रहे थे कि वे सब-कुछ खो बैठे हैं, उनकी संस्कृति को पूर्ण विनाश से कोई नहीं बचा सकता और इस दुनिया और इसकी गतिविधियों से दूर रह कर कम-से-कम वे अपनी आत्माओं को तो सुरक्षित रख सकते हैं—और यह चीज़ उनके लिए सर्वाधिक महत्व रखती थी। श्रीमती बेसेन्ट ने अपने मन में अवश्य निश्चय किया होगा कि इस निराशावाद को खत्म करना चाहिए और इन लोगों को बताया जाना चाहिए कि वास्तव में कुछ भी खोया नहीं है—हां, यह दूसरी बात है कि वे स्वयं ही खोने का निश्चय कर चुके हैं—और अगर वे स्वयं प्रयत्न करें तो देश को अब भी बचाया जा सकता है, ताकि विश्वचिन्तन और विश्व-प्रयासों में वह अपना उचित योगदान कर सके जिससे उसकी अपनी कीर्ति का विकास होगा और समस्त मानवजाति को भी सही अर्थों में सहायता मिलेगी।

और फिर सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ थी विदेशी शासन। उन्होंने वह चीज़ देखी जो बिलकुल स्पष्ट थी, कि उनके अपने ही लोग हमें अपनी राजनीतिक पराधीनता में रखे हुए थे और सबकी भावनाओं को बुरी तरह से रौंद रहे थे। वे इस देश पर अपने निजी स्वार्थों के लिए शासन कर रहे थे और स्वयं उनके (श्रीमती बेसेन्ट के) अपने और उनके देश के न्याय, स्वतंत्रता एवं औचित्य के सिद्धांतों को भंग कर रहे थे। यह सब देख कर उन्होंने मन ही मन यह निश्चय अवश्य किया होगा कि उन्हें चाहे अपने देशवासियों की दुश्मनी ही

क्यों न मोल लेनी पड़े, इस महान जाति को फिर से स्वतंत्रता दिलाने में वह उसकी मदद करेंगी, जिस जाति ने अतीत में एक से एक चमत्कारी कार्य किए थे, लेकिन आज एक विदेशी शक्ति के पैरों तले निस्सहाय अवस्था में पड़ी है और इसी कारण उपर्युक्त दो हालतें पैदा हो सकीं—कुछ लोगों में अतीत के प्रति शंका तथा आधुनिक की नकल, और दूसरों में निराशा और हतोत्साह ।

श्रीमती बेसेन्ट ने इन तीनों मोर्चों पर अपने तरीके से संघर्ष किया । पढ़-लिखों को अपनी अद्वितीय वक्तृत्व शक्ति का प्रयोग करके बताया कि किसी ज़माने में भारत बहुत महान था और भविष्य में भी होगा, आध्यात्मिक सत्य भौतिक सफलता से श्रेष्ठ होता है, शिक्षित लोगों का अपने देश के प्रति एक पवित्र कर्त्तव्य है, और स्वयं अपने लिए खतरा मोल लेकर ही वे अपनी जिम्मेदारियों की अवहेलना कर सकते हैं । यह कोई मामूली बात नहीं थी कि गोरा व्यक्ति—और उन दिनों इस गोरेपन का बहुत बड़ा अर्थ होता था—यह सब कुछ कहे जो वह कहती थीं, और हजारों लोग उनके चारों ओर जमा होकर उन्हें सुनें । उन्होंने अपने पूर्वजों के प्रति गर्व की एक भावना अनुभव की । उन्होंने संकल्प किया कि वे एक ऐसे नए भारत की सृष्टि करेंगे जो वास्तव में अपने अतीत के अनुकूल और योग्य होगा और उसमें भविष्य की दुनिया में अपने को विफलता से बचाए रखने की शक्ति होगी । इस महान कार्य के लिए श्रीमती बेसेन्ट ने देश के कोने-कोने का निरन्तर दौरा किया, सैकड़ों मंचों से भाषण दिए और देश भर के लाखों नर-नारियों तक गईं ।

बिना समझे-बूझे अतीत का अनुकरण करने का ढोंग करने वाली और वर्तमान की सफलताओं और उसकी भावी सम्भावनाओं से अनभिज्ञ होने पर भी उसकी ओर से मुंह मोड़े रहने वाली प्रतिक्रियावादी रूढ़िवादिता की मजबूत दीवार को तोड़ने के लिए उन्होंने बहुत सी शिक्षा संस्थाएं खोलीं जहां हमारे प्राचीन धर्म का अध्ययन, लेकिन एक नए, आधुनिक और उदार तरीके से—अनिवार्य था । इन संस्थाओं द्वारा, स्नेह और विश्वास के तरीके अपना कर, उन्होंने सामाजिक सुधार चालू करने की कोशिश की जिससे रूढ़िवादियों को संकीर्णता के प्रभाव से मुक्त कराया गया और आधुनिक चिंतन तथा विचारधाराओं के प्रति उनमें सहानुभूति पैदा की गई । इन सब प्रयत्नों का

यह परिणाम हुआ कि अपने परम्परागत चिंतन और जीवन के प्राचीन आधारभूत सिद्धान्तों के अनुसार ईमानदारी से अमल करने के साथ-साथ आधुनिक जीवन में जो कुछ अच्छा है, उसे भी वे स्वीकार करने लगे। डॉ० बेसेन्ट को उनके शिक्षा कार्यों तथा स्काउट आन्दोलन में मदद देने वाले श्री एफ० जी० पियर्स ने उनके कार्यों के बारे में यह लिखा है :

जहां तक मुझे मालूम है स्काउट आन्दोलन में श्रीमती बेसेन्ट की अभिरुचि सबसे पहले भारतीयों के अधिकारियों की लड़ाई का ही एक भाग था; यद्यपि मैं निश्चिन्त हूं कि एक शिक्षाविद् के नाते भी लड़कों-लड़कियों के लिए स्काउटिंग का मूल आदर्श उन्हें रुचिकर था। भारत भर में स्काउट आन्दोलन के विकास में उन्होंने सीधा और सक्रिय भाग लेना इसी तरह से शुरू किया। 1916 में मैंने अपने एक होनहार छात्र, जी० पी० आर्यरत्न को उच्चशिक्षा के लिए मदनपल्ले थियोसाफिक कालेज में भरती करने की व्यवस्था की। उन दिनों मैं श्रीलंका में बैडेन-पावेल ब्वाय स्काउट्स ऐसोसिएशन का उपनिवेश आयुक्त (कोलोनियल कमिश्नर) था और आर्यरत्न (कर्नल ओल्काट द्वारा खोले गए बौद्ध थियोसाफिकल कॉलेजों में से एक ओर जहां 1913 में श्रीमती बेसेन्ट ने मुझे वायस-प्रिंसिपल की हैसियत से भेजा था) गेल के हिन्दू कॉलिज में मेरे सबसे अच्छे छात्रों में ही नहीं था बल्कि मेरे स्काउट ट्रूप—सर्वप्रथम गेल ट्रूप—का सबसे योग्य सदस्य भी था। जबकि मैं बात कह रहा हूं, तब से कुछ ही महीने बाद आर्यरत्न ने मदनपल्ले में स्काउटिंग चालू की थी और इस कॉलेज तथा आस-पास के पड़ोसी क्षेत्रों के लिए आगे चलकर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होने वाले सर्वप्रथम मदनपल्ले ट्रूप को संगठित किया था। जो बाद में बहुत प्रसिद्ध हुआ (जिसकी पुष्टि कॉलिज के दो प्रिंसिपल सी० एस० त्रिलोककर और जे० एच० कज़िन्स कर सकते हैं)। मदनपल्ले का स्काउट संगठन ज्योंही कुछ मजबूत हो गया त्योंही आर्यरत्न ने बैडेन-पावेल स्टाउरस ऐसोसिएशन के लन्दन स्थित प्रधान कार्यालय को मदनपल्ले ट्रूप को सम्बद्ध करने के लिए लिखा। हम लोगों को इसमें किसी कठिनाई की कोई आशंका नहीं थी क्योंकि हमने श्रीलंका के स्काउट ट्रूपों की बिना किसी आपत्ति के मान्यता प्राप्त कर ली थी जिनमें लगभग सभी श्रीलंकावासी लड़के थे और अफसर लोग भी वहीं के लोग थे। हमें तब बड़ा

आश्चर्य हुआ जब बैडेन-पावेल ने मदनपल्ले ट्रुप को सम्बद्ध करने से इनकार कर दिया और इस इनकारी का कारण यह बतलाया कि भारत के स्काउट आन्दोलन में अंग्रेज अफसरों की संख्या इतनी नहीं है कि युद्धकाल में भारतीयों में स्काउट कार्य बढ़ाने के प्रस्ताव का औचित्य सिद्ध हो सके। श्रीमती बेसेन्ट ने ज्योंही यह सुना, त्योंही वह आगबबूला हो गईं। उन्होंने इसे भारतीयों का उन लोगों द्वारा किया गया अपमान समझा जो अपने प्रजातीय बड़प्पन के उन्माद में सोचते हैं कि युवकों को स्वास्थ्य, साहस, अच्छी नागरिकता और सेवाभाव का प्रशिक्षण देने के आन्दोलन विदेशी देखरेख के बिना भारतीय लोग ठीक संगठित कर ही नहीं सकते—मेरे विचार से उन्होंने ठीक ही समझा था। फलतः तारिणी पी० सिन्हा और के० संजीव कामथ की सहायता से 1917 में श्रीमती बेसेन्ट ने इण्डियन ब्वाय स्काउट एसोसिएशन स्थापित कर दिया।

श्री जे० एच० कजिन्स ने अपनी युवावस्था में आयरलैंड के 'होम रूल' आन्दोलन के समर्थन में कुछ जोशीली कविताएं लिखी थीं और वह तथा उनकी पत्नी मार्ग्रेट कजिन्स डॉ० बेसेन्ट के बड़े पक्के अनुयायी हो गए थे—श्रीमती मार्ग्रेट कजिन्स का महिला आन्दोलन और विशेषकर महिलाओं को मताधिकार दिलाने के आन्दोलन के इतिहास में प्रमुख स्थान रहा है। इन दोनों ने उनके साथ मदनपल्ले कॉलेज तथा बनारस के सेण्ट्रल हिन्दू कॉलिज में काम करने के साथ-साथ उनके सभी शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रमों में सहयोग दिया था। ये दोनों 'होम रूल' आन्दोलन में उनके निकट समर्थक थे। कला और विशेषतः भारतीय चित्रकला के पुनर्जागरण में और भारतीय कलाकारों के संरक्षण में उन्हें अत्यधिक रुचि होने के कारण, इस दिशा में भी उन्होंने बहुत काम किया। अपने कार्यों में श्रीमती बेसेन्ट से प्रेरणा और सहायता पाने की सार्वजनिक घोषणा करने वालों में इनका प्रथम स्थान था।

दुनिया भर के उन असंख्य लोगों में लेडी एमिली लुटयेन्स और कुमारी आरुण्डेल के नाम सबसे प्रमुख हैं जिन्होंने अपना पूरा जीवन, अपनी तमाम सम्पत्ति और अपना अथक परिश्रम ऐसे कामों में लगा दिया जिनके लिए श्रीमती बेसेन्ट ने या तो स्पष्टतः कहा या प्रेरणा दी।

श्रीमती बेसेन्ट के एक निकट अनुयायी और थियोसाफिकल सोसायटी के वर्तमान अध्यक्ष श्री श्रीराम ने उनके राजनीतिक आदर्शों को संक्षेप में इस

तरह प्रस्तुत किया है : स्वर्गीय लार्ड हाल्डेन ने एक बार डॉ० बेसेन्ट की प्रशंसा करते हुए कहा था कि वह अपने जमाने की एक महान राजनीतिज्ञ हैं। लार्ड हाल्डेन स्वयं भी उसी वर्ग के थे और साथ-साथ में एक दार्शनिक चितक भी। डॉ० बेसेन्ट के रचनात्मक गुणों की जितनी अच्छी अभिव्यक्ति भारत राष्ट्रमंडल विधेयक में मिलती है उतनी कहीं और नहीं। इस विधेयक की प्रधान निर्मात्री वह स्वयं थीं, उसके बनने में जितनी मेहनत लगी थी उन्हीं ने लगाई थी। करीब पच्चीस वर्ष पूर्व, मान्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधार लागू होने और गांधीजी के प्रथम असहयोग आन्दोलन की विफलता के बाद, 1923 में उन्होंने भारत के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार की बात शुरू की और बड़े परिश्रम के बाद उस विचार को कार्यरूप देने के लिए एक सर्वदलीय संगठन खड़ा किया जो पहले नेशनल कान्फ्रेंस कहलाया और बाद में नेशनल कन्वेन्शन। सर तेज बहादुर सप्रू उसके अध्यक्ष थे और स्वयं उन्होंने प्रधान सचिव की हैसियत से भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता और राष्ट्रमण्डल के मामलों में समान साझेदारी के आधार पर ब्रिटेन में भारत के सम्बन्धों की राजनीतिक समस्या हल करने के लिए आवश्यक रचनात्मक प्रयत्नों की ओर लोगों का ध्यान मोड़ने के अति कठिन काम की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर ले ली थी।

डॉ० बेसेन्ट के एक साहसी अनुयायी, श्री ए० रंगास्वामी अय्यर ने उनके राजनीतिक कार्यक्रम के विकासक्रम का इन शब्दों में वर्णन किया है :

> भारत में अपने जीवन के आरम्भ में डॉ० बेसेन्ट ने राजनीति में प्रवेश करने से इनकार कर दिया। उनका विश्वास था कि भारत के राष्ट्रीय जीवन की जागृति धर्म और आध्यात्मिकता पर आधारित होनी चाहिए। हिन्दू धर्म के सत्यों को आधुनिक कलेवर में पेश करने के लिए उन्होंने सतत कार्य किया ताकि वर्तमान पीढ़ी के लोगों को सन्तुष्ट तथा विश्वस्त किया जा सके जिन्हें हर समस्या को बौद्धिक दृष्टिकोण से जांचने-परखने की शिक्षा मिल चुकी थी। युवा पीढ़ी को अपने पूर्वजों से प्राप्त गौरवपूर्ण उत्तराधिकार पर अभिमान करने की शिक्षा देने, उनमें मातृभूमि के लिए प्रेम तथा देशभक्ति की उच्च भावना पैदा करने और उन्हें देश की श्रेष्ठता एवं कीर्ति को पुनः स्थापित करने के लिए सेवा और त्याग के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से वह

'भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा' की संस्थापक एवं अगुवा बन गईं। चूंकि भारत में विश्व के सभी बड़े-बड़े धर्मों के मानने वाले रहते थे, इसलिए उन्होंने 'धर्मों के भ्रातृत्व' सबके समान स्रोत और सबके समान आधार का उपदेश दिया। उनका लक्ष्य सिर्फ यही नहीं था कि युवा पीढ़ी अपने देश और उसकी अतीत-कालीन सफलताओं पर गर्व करे, बल्कि वह यह भी चाहती थीं कि वे लोग अनुशासित जीवन बिताएं, दृढ़ तथा आदर्श चरित्र बनाएं और अपनी योग्यताओं तथा प्रतिभाओं को देश की सेवा में उपयोग करें। उन्होंने जब देखा कि यहां पर बहुत सी अस्थिर प्रवृत्तियां हैं जिससे एक संयुक्त राष्ट्र के उदय को बड़ा खतरा है तो एक दूरदर्शी राजनेता की तरह उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के बीच की बढ़ती हुई खाई को पाटने की आवश्यकता स्वीकार की—यह खाई वायसराय लार्ड मिन्टो के कार्यकाल में चालू की गई साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति से और भी गहरी हो गई थी—और भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में फूट और मतभेदों को दूर करने के लिए विभिन्न धर्मों के भ्रातृत्व को स्वीकार करने पर ज़ोर दिया। पंडित मदनमोहन मालवीय एक हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए सरकार से प्रपत्र (चार्टर) प्राप्त करने के लिए आग्रह कर रहे थे यद्यपि उनके पास प्रस्तावित विश्वविद्यालय के घटक के रूप में कोई कॉलेज नहीं था जिसका होना प्रपत्र की प्राप्ति के लिए एक अनिवार्य शर्त थी। चूंकि ब्रिटिश सरकार दो-दो विश्वविद्यालयों के लिए प्रपत्र न देती और उन्होंने (श्रीमती बेसेन्ट ने) सोचा कि कोई भी न होने से तो एक साम्प्रदायिक हिन्दू विश्वविद्यालय का होना अच्छा ही है, इसलिए उन्होंने सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज विश्वविद्यालय के घटक कॉलिज के रूप में दे दिया। बनारस में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना ने अलीगढ़ में मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना को और अधिक बल दे दिया। जैसा कि डॉ० बेसेन्ट को पहले ही भय था, इन दो साम्प्रदायिक विश्वविद्यालयों ने अलगाव की प्रवृत्तियों को और बढ़ावा दिया। जैसा कि उनके बहुत से कामों में हुआ, इस मामले में भी डॉ० बेसेन्ट ने अपनी राजनीतिज्ञता दिखलाई और एक व्यावहारिक आदर्शवादी की भूमिका अदा की यद्यपि कुछ अन्य राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं के प्रगति-विरोधी दृष्टिकोण तथा राजनीतिक सूझ-बूझ के अभाव के मुकाबले में अक्सर उनकी बात चल नहीं पाती थी। अपने धार्मिक तथा शैक्षिक कार्यों

को एक सुदृढ़ आधार दे चुकने के बाद डॉ० बेसेन्ट ने सामाजिक कुरीतियों, विशेषकर बाल-विवाह और दहेज प्रथा के सुधार की ओर ध्यान देना शुरू किया।

प्रथम विश्व-युद्ध 1914 में आरम्भ हुआ और यद्यपि डॉ० बेसेन्ट ने विदेशों से उस समय मिल रहे संकेतों के विपरीत होने पर भी यह घोषणा की कि मित्र राष्ट्र (इंगलैण्ड आदि) जीतेंगे, उन्होंने इस पर भी ज़ोर दिया कि इस जीत के परिणामों को स्थायी होना है और भविष्य में युद्धों से बचना है तो इसके लिए भारतीय स्वाधीनता की कीमत चुकाई जानी चाहिए। इंगलैण्ड के उस समय कठिनाई में होने पर भी उन्होंने अपनी स्वाधीनता के लिए कोशिश करने के भारत के अधिकार पर ज़ोर दिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1915 के बम्बई अधिवेशन के अवसर पर उन्होंने कांग्रेसी नेताओं की बैठक बुलाई जिसमें 'भारतीय होम रूल' (भारतीय स्वशासन) का झंडा फहराने के अपने निश्चय की घोषणा की। सभी नेता यह सुनकर चौंक गए, उन्हें भय था कि आयरलैण्ड स्वाधीनता संग्राम से सम्बन्धित इस अशुभ नाम के प्रयोग से भारत की राजनीति के शान्त वातावरण में भी उसी प्रकार की घटनाएं होने लगेंगी और इसीलिए उन्हें डॉ० बेसेन्ट का राजनीति में प्रवेश करना कुछ एक अपशकुन सा लगा जो निकट भविष्य में ही भारत के राजनीतिक क्षेत्र में अप्रिय गड़बड़ियां होने की पूर्व-सूचना दे रहा था। परिणाम-स्वरूप उन नेताओं ने उनसे कहा कि भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन वे स्वयं अपने हाथ में लेंगे और अपने तरीकों से उसे चलाएंगे। डॉ० बेसेन्ट ने उचित कदम उठाने के लिए उन्हें पहली अक्तूबर तक का समय दिया, तब तक अगर वे कारंवाई शुरू नहीं करेंगे तो वह अपना 'होम रूल' आन्दोलन आरम्भ कर देंगी।

1916 की पहली अक्तूबर भी आ गई, लेकिन कांग्रेसी नेताओं द्वारा कोई कारंवाई किए जाने का कोई लक्षण नहीं दिखलाई दिया और उसी दिन डॉ० बेसेन्ट ने भारत के लिए 'होम रूल लीग' की स्थापना कर दी। उनके नेतृत्व में भारतीय राजनीति में एक नई स्फूर्ति आ गई, उसके जीवन में एक नई अवस्था का आरम्भ हो गया। लखनऊ में हुए 1916 के कांग्रेस अधिवेशन में हिन्दू-मुस्लिम नेताओं को एक होना पड़ा और भारत की

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए लखनऊ समझौते पर हस्ताक्षर हो गए—यद्यपि साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति और अल्पसंख्यकों को बल दिए जाने से वह कुपित अवश्य हो गया—लेकिन, जैसाकि डॉ० बेसेन्ट ने पहले ही जान लिया था, एकता के बिना भारत स्वतन्त्रता नहीं ले सकता था। 'होम रूल' के लिए चलाए गए अभियान के दौरान में, डॉ० बेसेन्ट की राजनीतिक गतिविधियों के कारण उनके पत्र 'न्यू इण्डिया' की कई बार जमानतें जब्त हुईं और इसके साथ-साथ अदालतों में अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने अनेक लड़ाइयां लड़ीं जिनसे उस पक्ष ('होम रूल' आन्दोलन) का काफी प्रचार भी अवश्य हुआ। जी० एस० आरुण्डेल और बी० पी० वाडिया के साथ उनकी नजरबन्दी ने देश भर में 'होम रूल' के लिए जबर्दस्त उत्साह पैदा कर दिया और जब यह उत्साह अपनी चरम सीमा पर था तभी कलकत्ता में होने वाले 1917 के कांग्रेस अधिवेशन की वह अध्यक्ष बनाई गई।

भारत की स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए श्रीमती बेसेन्ट का तरीका यह था कि तेज किन्तु सुसंगठित ढंग से संवैधानिक आन्दोलन चलाया जाए, आम जनता को राजनीतिक शिक्षा दी जाए और आदर्श लक्ष्य के लिए उत्साह-पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जाए, और भारतीय प्रतिभा एवं परिस्थितियों के अनुकूल संयुक्त भारतीय राष्ट्र के नाम पर एक 'स्वराज्य संविधान' पेश किया जाए जिसे भारतीय जनता की स्वीकृति प्राप्त होने के कारण ब्रिटिश संसद को पारित करना पड़ेगा। इसी मौके पर श्री गांधी ने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया और देश को विश्वास दिलाया कि तमाम सरकारी काम-काज रोकने और बिलकुल ठप्प करने के लिए सरकारी कानूनों की 'सविनय अवज्ञा' करने या 'सत्याग्रह' का अस्त्र इस्तेमाल करने से स्वराज्य मिलेगा। डॉ० बेसेन्ट अवज्ञा (अर्थात् कानून-भंग) आन्दोलन के बिलकुल विरुद्ध थीं क्योंकि उनका विचार था कि चूंकि आम जनता नियन्त्रण से बाहर हो जाएगी और इसके परिणास्वरूप दंगे और खूनखराबा होगा। उनका दृढ़ मत था कि इंगलैण्ड से हमारा सम्बन्ध बना रहे और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में उसे बराबरी का स्थान मिले जिसके फलस्वरूप, अन्त में, समूचे विश्व के लिए विभिन्न सरकारों का एक संघ (फेडरेशन) बन सकेगा। श्री गांधी का तरीका अधिक प्रदर्शनीय

और आकर्षक था और आम लोगों को रोचक लगा और श्रीमती बेसेन्ट का व्यावहारिक आदर्शवाद ठुकरा दिया गया।

सुप्रसिद्ध पत्रकार, विधायक, राजनीतिक कार्यकर्ता, श्री बी० शिवाराव डॉ० बेसेन्ट के राजनीतिक कार्यों के बारे में लिखते हैं कि :

भारतीय राजनीति में डॉ० बेसेन्ट का प्रवेश और प्रथम विश्वयुद्ध का आरम्भ एक साथ हुआ। उसके बाद 15 वर्ष तक वह राजनीतिक रंगमंच पर छाई रहीं—देश को दो महान धारणाएं देकर और बाद में उन्हें पूर्ण शुद्ध एवं विस्तृत रूप देकर कालान्तर में देश के सभी प्रगतिशील लोगों और दलों ने उनके महत्व को समझा और स्वीकार कर लिया। ये धारणाएं थीं पहली, ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्य के रूप में भारत के लिए 'होम रूल' (स्व-शासन), और दूसरी, युद्ध के अन्त में श्री लायड जार्ज के मन्त्रिमंडल द्वारा उत्तरदायी सरकार का लक्ष्य मान लिए जाने पर, भारत के लिए आत्म-निर्णय का सिद्धान्त—अर्थात् भारतीयों द्वारा भारत के लिए संविधान की रचना।

विश्व-युद्ध के बीच (1916) में ही जबकि भारत के बड़े-बड़े राजनीतिक नेता उस समय लागू मिन्टो-मोर्ले सुधारों के आधार पर नई राजनीतिक प्रगति के अर्थों में बड़े विनीत भाव से सोच-विचार कर रहे थे, डॉ० बेसेन्ट ने 'भारत के लिए होम रूल' का आकर्षक नारा लगाया। इस नारे ने युवा पीढ़ी के मन को मोह लिया और वह उन्हें एक नए आन्दोलन का नेता मानकर उनके पीछे चलने को तैयार हो गई। पुरानी पीढ़ी के वकील-राजनेताओं के कानूनी दृष्टिकोण की चिन्ता न करके उन्होंने 'होम रूल लीग' के लिए व्यापक भावात्मक समर्थन का एक आधार तैयार किया। उनके नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और उसकी सहायक 'होम रूल लीग' ने देश भर में, गांव-गांव और शहर-शहर में, 'होम रूल के जन्मसिद्ध अधिकार' का सन्देश पहुंचा दिया।

उनका तरीका शिक्षात्मक था। 'होम रूल' आन्दोलन के आरम्भिक दिनों में नरमपंथी नेता श्रीमती बेसेन्ट द्वारा भारत की राजनीतिक प्रगति को दी जाने वाली तेज रफ्तार से कुछ शंकित होने लगे और उन्होंने 'होम रूल' की मांग का विरोध भी किया। भारत को पूर्ण स्वशासन देने का वायदा करने की ब्रिटिश घोषणा के लिए एक तेज, यद्यपि विवादास्पद, आन्दोलन चलने लगा और श्रीमती बेसेन्ट इसकी मुख्य केन्द्र थीं। नजरबन्दी से कोई नतीजा नहीं निकला, बल्कि उलटे आन्दोलन को

और बल मिल गया। युद्ध समाप्त हो जाने पर श्री मान्टेगू की ओर से यह ब्रिटिश घोषणा की गई कि "प्रशासन में भारतीयों के सहयोग को बढ़ाकर धीरे-धीरे उत्तरदायी सरकार के लक्ष्य की पूर्ति की जाएगी।"

स्तर की समानता के लिए की गई भारत की उग्र मांग के जवाब में यह घोषणा अत्यन्त हल्की और उत्साहरहित लगी। इसे सुनकर डॉ० बेसेन्ट की सर्वप्रथम प्रतिक्रिया यह थी : "न तो ब्रिटेन को शोभा देता है कि वह यह प्रस्ताव करे और न भारत को कि वह इसे स्वीकार करे।" इसके बाद बहुत से सम्मेलन और शिष्टमंडल चलते रहे, दो साल तक वार्ताएं और बहस-मुबहसे चले—और इन सबका अभिप्राय था ब्रिटिश घोषणा में सुधार करके उसे अधिक व्यापक बनाना। जब तक लायड जार्ज मंत्रिमंडल से कोई और अधिक उदार योजना मिलने की ज़रा-सी भी उम्मीद रही, वह बराबर आलोचक रहीं। लेकिन जब वार्ताओं का क्रम समाप्त हो गया और उसी योजना को लागू करने की तैयारियां पूरी हो गईं, तो वह उसकी पूर्ण समर्थक हो गईं—अर्थात् जितना लाभ उठाया जा सके, उठाया जाए।

श्रीमती सरोजिनी नायडू ने कहा था :

> आज जब मैं भारतीय हितों के लिए उनकी अद्वितीय निष्ठा और असंख्य सेवाओं के बारे में सोचती हूं तो उनकी बहुमुखी श्रेष्ठता को इससे अधिक अच्छी कोई और भेंट नहीं दे सकती कि उस प्रिय चमत्कार की स्तुति करूं जो उन्होंने भारत के प्रति अपने अनुभवातीत और रूपान्तरकारी प्रेम से सम्पन्न किया और जिसके द्वारा हमारे बीच एक अजनबी के रूप में आकर भी उन्होंने हमारी अपनी प्रजाति और परम्पराओं की यशस्वी तथा पराक्रमी नारियों की गाथाओं में स्वयं अपने लिए एक आदरणीय एवं न्यायोचित स्थान बना लिया है।

1956 में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने नई दिल्ली के थियोसाफिकल लॉज को निम्नलिखित सन्देश भेजा था :

> श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के जन्मदिवस के अवसर पर मैं अपनी बधाइयां भेज रहा हूं। आज की नई पीढ़ी के लिए वह नाम मात्र हो सकती हैं। लेकिन मेरी और मेरी से पहले की एक पीढ़ी के लिए उनका बहुत बड़ा

व्यक्तित्व था, जिसने हम लोगों को बहुत प्रभावित किया। इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में उनका योग बहुत अधिक था। इसके अतिरिक्त, वह उन लोगों में से थीं जिन्होंने हमारा ध्यान हमारी अपनी (सांस्कृतिक) धरोहर की ओर आकर्षित किया और हममें उसके प्रति गर्व पैदा किया।

●

परिशिष्ट

1917 में कांग्रेस के कलकत्ता, अधिवेशन में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के अध्यक्षीय भाषण के उद्धरण—

साथियो और मित्रो !

आज जिस आसन से मैं बोल रही हूं वह एक बहुत बड़ा वरदान है, जो भारत किसी को देता है। मुझ से पूर्व इस आसन पर जो महानुभाव विराजमान होते रहे हैं वह इस भारत के इस उत्कृष्ट उपहार के प्रति समुचित रूप से अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते रहे हैं। यह आसन पूर्ण विश्वास, प्रेम और श्रद्धा की निशानी है और भारत इस आसन के लिए जिस किसी को चुनता है वह उसका लोकप्रिय पथ-प्रदर्शक बन जाता है। मुझसे पहले जिन लोगों ने इस आसन को सम्भाला, उन्हें आभार प्रदर्शन के लिए उपयुक्त शब्द मिल गए किन्तु मैं किस मुंह से यह आभार व्यक्त करूं क्योंकि मैं उन लोगों के मुकाबले में आप सब के एहसानों और अनुकंपाओं से बहुत ज्यादा दबी हुई हूं। मुझे चुन कर आपने कांग्रेस के इतिहास में प्रथम बार एक ऐसे व्यक्ति का चुनाव किया है, जो सरकार की अप्रसन्नता का अत्यधिक शिकार रहा है, जिसे सरकार ने जन-सुरक्षा के लिए खतरा समझ कर चुनाव के समय नजरबन्द कर रखा था। जब मुझे अपमानित किया गया आपने मेरे सर पर सम्मान का ताज रखा, जब मुझे पद-दलित किया गया, आपने मेरी निष्ठा और सद्भाव पर विश्वास किया, जब मुझे नौकरशाही के जूतों से रौंदा गया, आपने मुझे अपना नेता चुना। जब मेरी जुबान पर ताले डाल दिए गए थे ताकि मैं अपना पक्ष-समर्थन न कर सकूं उस समय आप लोगों ने मेरी हिमायत में आवाज उठाई और मुझे नौकरशाही के शिकंजे से आजाद करा दिया। मैं गुमनामी में रहकर सेवा करना ही अपने लिए गर्व की बात समझती थी, मगर आप लोगों ने मुझे ऊंचा उठाया और दुनिया के सामने मुझे अपना चुना हुआ प्रतिनिधि बनाकर खड़ा कर दिया। मैं इन सबका कैसे शुक्रिया अदा करूं इसके लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। मेरे पास वह वाणी नहीं है जिसका सहारा लेकर

मैं आपके इन सारे एहसानों को उतार पाऊं। शब्द मेरा साथ नहीं दे रहे हैं अतः मेरे कार्य ही मेरी वाणी का काम देंगे। आपने मुझे जो यह उपहार दिया है उसे मैं भारत माता की सेवा में भेंट चढ़ाती हूं। मेरा सर्वस्व इस माता के चरणों में अर्पित हैं। केवल शब्दों के उच्चारण मात्र से नहीं बल्कि सेवा और कर्म के भाव से मैं आप सब के साथ 'वन्दे मातरम्' के स्वर में स्वर मिलाती हूं। वन्दे मातरम् !!!

भारत के जीवन की इस संकट की घड़ी में आपने जो मुझे चुना है, उसमें मुझे बस एक ही बात नज़र आती है। शायद वह बात है कि मेरा सम्बन्ध पश्चिमी दुनिया के उत्तरी सागर से घिरे उस छोटे से द्वीप से रहा है, जो स्वाधीन और स्वतंत्र संगठनों की रचना में अग्रगामी रहा है। आर्य प्रवासी, जो यूरोप की भूमि पर फैल गए, स्वच्छन्दता और आज़ादी का अंकुर उनके रक्त मांस में संचरित हो चुका था। ये आर्य प्रवासी अपने मूल स्थान एशिया से स्वच्छन्दता का यह अंकुर अपने साथ ले गए थे। पश्चिमी इतिहासकार सैक्सन गांवों के स्वायत्तशासी स्वरूप का उद्गम पूर्वी दुनिया के पूर्ववर्ती गांवों को मानते हैं। वे अंग्रेजों में स्वाधीनता की भावना के विकास का स्रोत भी आर्यों के स्वाधीन और आत्म-निर्भर ग्राम समुदायों को ही ठहराते हैं।

इस स्वाधीनता के विकास में वहां नार्मन सामन्तवाद बाधक रहा और यहां ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उसका गला घोंटे रखा। मगर इंगलैण्ड में इसने अपनी ज़ंजीरों को तोड़ दिया और स्वाधीनता-प्रेमी लोगों का लालन-पालन किया और एक स्वतंत्र कामन सभा (लोक सभा) को जन्म दिया। इसी प्रकार यहां वह कांग्रेस के कार्य-कलापों के रूप में प्रस्फुटित हुई और अभी हाल ही में मुस्लिम लीग के रूप में भी उसी भावना का प्रस्फुटन दिखाई दिया है। इन दोनों संगठनों के सहयोग 'होम रूल' या स्वराज्य आन्दोलन के रूप में यही भावना पुष्पित पल्लवित हो रही है। मिल्टन, क्रामवेल, सिडनी, बर्क, पेन, शेली, विल्वर फोर्स, ग्लैडस्टन जैसे महानुभावों का इंगलैण्ड, जिस इंगलैण्ड ने कि मैजनी, को सुथ, क्रोपाटकिन, स्टेपनियाक्त को शरण दी और गैरीबाल्डी जैसे स्वाधीनता के अत्याचार का दुश्मन, निरंकुशता का शत्रु, स्वाधीनता के सेनानियों का स्वागत किया, वह इंगलैण्ड जो अत्याचार का दुश्मन, निरंकुशता का शत्रु, स्वाधीनता का पुजारी रहा है, उसी इंगलैण्ड का प्रतिनिधित्व करते हुए आज मुझे बहुत लज्जा आएगी। आज भारत अपने पैरों पर मजबूती से खड़ा होकर ब्रिटेन की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ा रहा है। यह हाथ दया चाहने वाले लोगों का नहीं,

एक आत्मसम्मानी और सचेत राष्ट्र का हाथ है जो अपनी स्वाधीनता के लिए कटिबद्ध है और पराधीनता नहीं सहयोग चाहता है, यह हाथ ब्रिटेन से दया की भीख नहीं बल्कि दोस्ती चाहता है। मैं, जो पश्चिमी दुनिया में पैदा हुई, इंगलैण्ड में पली और इतनी बड़ी हुई तथा अपनी इच्छा से भारत की बन गई, इस को बढ़कर, थामकर ब्रिटेन और भारत की एकता का प्रतीक बन जाना चाहती हूं; ऐसी एकता और मिलन का प्रतीक जो किसी विवशता या ज़ोर ज़बर्दस्ती से नहीं बल्कि अपनी पसन्द और दिलों के मेल से पैदा होता है; परस्पर सहयोग और एक-दूसरे की मदद का यह सम्बन्ध, अटूट प्रेम का रिश्ता है जो कभी टूट नहीं सकता। इसमें दोनों देशों का भला है और जिसे भगवान का वरदान भी प्राप्त है।

भारत के महान नेता, दादाभाई नौरोजी, इस संसार से कूच कर चुके हैं। उनकी आत्मा अन्य अमर आत्माओं के सान्निध्य में भारत की उन्नति की ओर टकटकी लगाए हुए है, और उसमें सहयोग दे रही है। वह डब्ल्यू० सी० बनर्जी, रानडे, ए० ओ० ह्यूम, हेनरी काटन, फीरोजशाह मेहता और गोपालकृष्ण गोखले जैसी महान विभूतियों के पास पहुंच चुकी है। ये महान विभूतियां, स्विनबर्न की कविता के शब्दों में स्वाधीनता की वेदी के पथ-प्रदर्शन नक्षत्र हैं :—

देखो मर्यादा रखना,
स्वतंत्रता देवी की और इनकी,
इसमें हित है
तुम्हारा, मेरा और सबका;
इनके मुकुट बस इसीलिए
जगमग जगमग करते रहते
जैसे झिलमिल तारे,
राह तुम्हारी रोशन रखने,
ताकि तुम्हारी दृष्टि
इस देवी पर ही टिकी रहे,
और तुम्हारे हाथ
न उसके
चरणों से छूट जाएं।

अपनी कमज़ोर वाणी में उनके सम्मान और श्रद्धा के तौर पर मुझे उनकी प्रशंसा में कुछ नहीं कहना है, उनकी प्रशंसा के लिए उनका अपना काम ही बहुत है। उन्होंने अपने देश की जो सेवा की है उससे उनका नाम और सम्मान हमेशा बना रहेगा। हम तो उनके पद-चिह्नों पर चलकर ही उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं, उन्हीं की तरह अपने अन्दर हिम्मत और साहस पैदा करके उन्हीं की तरह अटूट निष्ठा पैदा करके—ताकि 'होम रूल' या स्वराज्य प्राप्त कर सकें जोकि उनकी चिर-आकांक्षा थी। वह जब तक हम लोगों के बीच रहे उसके लिए कोशिश करते रहे और काश, अब वह दिन जल्दी आए कि वह परलोक से ही अपने इस स्वप्न को साकार होता देख सकें।

भारत और युद्ध

यह महायुद्ध जिसकी लपेट में एक-एक करके सभी राष्ट्र आते जा रहे हैं अब चौथे वर्ष में प्रवेश कर चुका है। यह अभी कितने दिन और चलेगा और इसके बारे में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि सरकारी क्षेत्रों के बाहर इसके सम्बन्ध में समाचारों के प्रसार पर कड़े प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। मगर मैं, एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से नहीं बल्कि अध्यात्मवाद की एक साधारण विद्यार्थी के नाते इतना अवश्य कह सकती हूं कि यह युद्ध एक-न-एक दिन तो बन्द ही होगा। इस युद्ध का वास्तविक उद्देश्य निरंकुशता तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे के आधिपत्य की बुराइयों का उद्घाटन करके उसका विनाश करना तथा उसके स्थान पर हर राष्ट्र के स्वशासन और आत्मविकास के दैवी अधिकारों को ठोस बुनियादों पर प्रतिष्ठित करना है। स्वशासन तथा आत्मविकास का यह अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को भी दिलाना है मगर इस रूप में कि छोटी इकाई अर्थात् व्यक्ति को दिया गया यह अधिकार बड़ी इकाई अर्थात् राष्ट्र के कल्याण से मेल खाता हुआ हो। एक व्यक्ति के शासन का समर्थन करने वाली निरंकुशवादी तथा लोहे की दीवार के पीछे मुट्ठी-भर लोगों के शासन का समर्थन करने वाली शक्तियां अपनी मौत आप मरने के लिए यूरोप की मध्यवर्ती शक्ति के रूप में इकट्ठी हो गई हैं, वैसे ही जैसे प्राचीन युग में रावण तबाह हुआ था। नए युग का सूत्रपात तो तभी होगा जबकि पुराना युग खत्म हो जाए। सत्य और न्याय पर आधारित सभ्यता जो भाई चारे, अनुशासित स्वतन्त्रता, शान्ति और समृद्धि की सभ्यता होगी, उसका विकास उस समय तक नहीं हो सकता जब तक पुरानी सभ्यता को धराशायी करने वाले तमाम तत्व एक-एक करके खत्म नहीं हो जाते हैं।

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि यह युद्ध अपने इस लक्ष्य के प्राप्त होने तक लड़ा जाता रहे। इस लक्ष्य की प्राप्ति से पहले अपरियुक्त शक्ति स्थापित करने से उसको वास्तविक उद्देश्य में सफलता नहीं मिलेगी। निरंकुशवादी तथा अधिकार तंत्रवादी शक्तियों का पूर्व और पश्चिम में विनाश होकर तो रहेगा ही किन्तु इसका जहर बाद में फिर न फैलने पावे इसके लिए जरूरी है कि लोगों के मन-मस्तिष्क में इसके दोषों को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया जाए। लोगों के सामने यह बात सिद्ध की जानी चाहिए कि उनकी शासन-पद्धति स्वाधीन राष्ट्रों की सरकारों की तुलना में निकृष्ट कोटि की है और युद्ध का उनका मनमाना खेल और लोहे की तरह कठोर मशीनरी—जो शुरू में ऊपरी खुशहाली और सफलता भी ले आती है—

जनतांत्रिक राष्ट्रों के गतिशील और जीवन्त संगठनों की अपेक्षा कम टिकाऊ और कम प्रभावशाली रहती है। उनकी कृत्रिम सफलताओं पर से पर्दा उठा देना चाहिए ताकि उनकी चकाचौंध कर देने वाली चमक का जादू हमेशा के लिए खत्म हो जाए। उनका युग अब बीत चुका है। विकास की शृंखला में वह बीते दिनों की यादगार हैं जो अब जीने के अयोग्य हैं और जिन्हें अब खत्म ही हो जाना चाहिए।

इस युद्ध में जब ब्रिटेन ने हथियार उठाया तो वह एक ऐसे छोटे से राष्ट्र की स्वाधीनता की रक्षा के लिए था, जिसे अंतर्राष्ट्रीय सन्धियों द्वारा मान्यता दी गई थी। ब्रिटेन ने जिस महान सिद्धान्त की रक्षार्थ यह कदम उठाया उसने भारत तथा अन्य उपनिवेशों में एक नई लहर दौड़ा दी; सब-के-सब बिना कुछ कहे सुने तुरन्त इंगलैण्ड के साथ युद्ध के मैदान में कूद पड़े; उन्होंने उस पुराने इंगलैण्ड का आह्वान सुना जो इंगलैण्ड कभी स्वाधीनता का प्रहरी था। इससे उनका दिल खुशी से नाच उठा था। उस समय किसी जगह किसी तरह की तैयारी नहीं थी; लार्ड हाल्ने की सूझ-बूझ के कारण ग्रेट ब्रिटेन की थोड़ी-सी सेना तैयार थी और लार्ड हार्डिंग की थोड़ी-सी सेना तैयार थी और लार्ड हार्डिंग के सामयिक निर्णय के कारण भारत की तैयार सेना भी उस ओर तुरन्त रवाना कर दी गई थी। ब्रिटेन की सेना की यह छोटी टुकड़ी डट कर लड़ी और फ्रांस की राजधानी पेरिस को जाने वाली सड़क की मोर्चा-बन्दी किए रही, उसके सैनिक लड़ते रहे, पीछे हटते रहे और इसी तरह तब तक लड़ते और समय गुजारते रहे जब तक भारत के सपूतों ने फ्रांस की धरती पर कदम नहीं रख लिया। भारतीय सैनिकों ने आगे का मोर्चा सम्भाला। बढ़ते हुए दुश्मनों पर हमला किया, पीछे हटती हुई ब्रिटेन की सेना की हिम्मत बढ़ाकर उन्हें आगे बढ़ने की

प्रेरणा दी और उनके साथ मिलकर कड़ाके की दो सर्दियों भर लड़ते रहे। गर्म देश के यह सिपाही घुटने और कमर तक बर्फ की तरह ठण्डे कीचड़ों में लथपथ लड़ते रहे—यह सिपाही लड़ाई में पीठ दिखाना नहीं जानते थे।

भारत की दृष्टि में ग्रेट ब्रिटेन स्वाधीनता का रक्षक और जर्मनी निरंकुशवाद का पथ प्रदर्शक था। उसकी यह दृष्टि ठीक भी थी, उसने खुद स्वाधीन न होते हुए और जर्मनी के निरंकुशवादी कानूनों से भी अधिक कठोर कानूनों के पंजे में जकड़े होने के बावजूद ग्रेट ब्रिटेन का साथ दिया; उसका यह निर्णय उचित ही था क्योंकि भारत यह समझता था कि यह चीजें अंग्रेजों की मनोवृत्ति से मेल नहीं खाती हैं और वह अस्थायी हैं। उसने जर्मनी के प्रलोभनों को लात मार दी और विद्रोह करने की उसकी अपील पर ध्यान नहीं दिया। उसने अंग्रेजों को अपने आदमी और अपना धन देना चाहा, उसके शिक्षित वर्ग ने स्वयंसेवकों के रूप में अपनी सेवाएं देनी चाहीं; मगर फिर भी अंग्रेजों और भारतीयों के बीच का द्वेष और अविश्वास की वह भावना जाग उठी जो वस्तुतः कभी सोई ही नहीं थी। इस भावना ने इस प्रस्ताव को अंगीकार नहीं होने दिया, पैसे और धन के लिए तो दबाव डाला गया किन्तु भारतीयों ने लेना अस्वीकार कर दिया। धीरे-धीरे भारत का शिक्षित वर्ग उससे विमुख हो उठा, वह हतोत्साहित हो उठा और दो राष्ट्रों को एक-दूसरे में गूंथ देने का एक अनूठा अवसर हाथ से निकल गया।

युद्ध के आरम्भिक दिनों में मैंने यह कहने का साहस किया था कि यह लड़ाई उस समय तक खत्म नहीं हो सकती जब तक इंगलैण्ड निरंकुशवाद तथा अधिकारतंत्र-वाद के चंगुल से यूरोप को ही नहीं बल्कि भारत जैसे देश को भी छुड़ाना स्वीकार नहीं करता है। कलकत्ते के बिशप ने भी एक स्वाधीन राष्ट्र का नागरिक होने के नाते अपने साहस का परिचय देते हुए यही बात कही थी कि "यह बहुत बड़ी विडम्बना है कि यूरोप में निरंकुशवाद तथा अधिकारतंत्रवाद पर विजय पाने के लिए प्रार्थनाएं की जाएं और उसी व्यवस्था को भारत में बना भी रहने दिया जाए," मगर अब स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा की जा चुकी है कि इंगलैण्ड का उद्देश्य भारत में स्वशासन की स्थापना करना है और काफी मात्रा में स्वशासन तुरन्त दे भी दिया जाएगा। मेरा अपना विचार है कि पिछले वर्ष लखनऊ में जिन सुधारों का प्रस्ताव किया गया था यदि सरकार उनको कार्यान्वित करके अपना यह वायदा पूरा कर दे तो फिर युद्ध की समाप्ति के लक्षण दिखाई देने लगेंगे। जब तक निरंकुशवाद का जनाजा

उठ नहीं जाता, यह जंग खत्म नहीं हो सकती।

अब मैं उन कारणों पर आ रही हूं कि भारत द्वारा प्रदर्शित यह सहानुभूति क्यों धूमिल पड़ गई है और भारत को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्दर स्वयं अपनी स्थिति के बारे में सोचने पर क्यों विवश होना पड़ा ? इस स्थिति के लिए भारत किसी तरह जिम्मेदार नहीं है और न इससे उस सहायता का महत्त्व कम होता है जो भारत ने पहले दी है और अब भी दे रहा है। युद्ध छिड़ने के बहुत पहले से भारत को बढ़ते हुए सैनिक खर्च के बोझ से दबाया जा रहा है। 1885 से पहले तो भारत में किसी प्रकार का विरोध करने की शक्ति नहीं थी किन्तु उसके बाद कांग्रेस के निरन्तर विरोध के बावजूद सैनिक खर्च का बोझ भारत पर लादा जाता रहा है। यह बोझ कुछ तो उस नीति का परिणाम था जो ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों को मिलाने के लिए 1859 में अपनाई थी और कुछ देश की सीमाओं से बाहर की लड़ाइयों तथा सीमा के प्रसार के अभियानों का परिणाम था जिसमें भारत की किसी प्रकार से कोई वास्तविक अभिरुचि नहीं थी। यह सारे अभियान साम्राज्य के कल्पित हितों को दृष्टि में रखकर किए जाते थे और जिसमें भारत का किसी प्रकार का कोई हित नहीं था।

उपरोक्त सैनिक अभियानों तथा कुछ अन्य बातों के फलस्वरूप जिनकी चर्चा मैं अभी करूंगी, भारत के ऊपर खर्च का जो भार बढ़ा उसका इतना विरोध फिर भी नहीं होता यदि यह खर्च भारत ने स्वयं अपने ऊपर लादे होते और उसके सपूतों को साम्राज्य बनाने के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करने का लाभ मिलता। मगर यहां मामला बिलकुल दूसरा रहा है। भारत को साम्राज्य का बोझ तो उठाना पड़ा है मगर साम्राज्य द्वारा आजादी और शक्ति का फल उसे भोगने को नहीं मिला। इसके अलावा सेना की व्यवस्था में कुछ इस प्रकार परिवर्तन किए गए कि उन्होंने भारत की अर्थव्यवस्था को जीर्ण और जर्जर बना दिया। इस नई व्यवस्था के अनुसार ब्रिटिश सैनिक दलों के लिए भारत को प्रशिक्षण स्थल बनाया गया। अल्पकालिक सेवा के अंतर्गत भारत में सैनिकों को प्रशिक्षण दिया जाता और जब वह प्रशिक्षण प्राप्त कर लेते, तो उनका तबादला कर दिया जाता और उनकी जगह नए रंगरूट प्रशिक्षण के लिए भरती कर लिए जाते। इस प्रशिक्षण और जल्दी-जल्दी किए जाने वाले तबादलों का खर्च भारत पर पड़ता और इसका सारा फायदा ग्रेट ब्रिटेन को मिलता। इस अल्पकालिक सेवा प्रणाली के बारे में शिमला कमीशन ने साफ-साफ लिखा था कि "इस प्रणाली से भारत में ब्रिटिश सेना का खर्च अत्यधिक बढ़ गया है और कार्य कुशलता काफी घट गई है और

हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि इस अल्पकालिक सेवा प्रणाली को शुरू करते समय भारत के करदाताओं के हितों की सर्वथा उपेक्षा की गई है।"

इस प्रणाली पर कमीशन की यह टिप्पणी बिलकुल उचित थी। अल्पकालिक सेवा प्रणाली के अन्तर्गत नए भरती होने वाले केवल पांच वर्ष तक भारत में रहते थे जिनके प्रशिक्षण पर बहुत बड़ी रकम खर्च होती थी और इनका सारा लाभ इंगलैण्ड को मिल जाता था। इस तरह इंगलैण्ड की सुरक्षित सेना की संख्या बढ़ती गई, भारत में और भारत के खर्चे पर इस सेना की संख्या चार लाख तक पहुंच गई।

1863 में भारतीय सेना एक लाख चालीस हज़ार थी जिनमें 65,000 गोरे अफसर थे। 1885 और 1905 के बीच बहुत से परिवर्तन किए गए इसमें लार्ड किचनर की सेना का पुनर्गठन भी शामिल है, जो उन्होंने 1902 में कमान्डर-इन-चीफ बनने पर किया था। यहां सरकारी तौर पर मैं भारतीय सेना के साज-सामान की भी चर्चा करना चाहती हूं। भारतीय सेना के स्टोर अंग्रेज़ी साज़ और सामान से भरे गए जबकि उनमें से अधिकांश चीजें भारत में ही तैयार हो सकती थीं। अगर यह चीजें भारत में तैयार होतीं तो भारत को इस खर्चे का बहुत कुछ लाभ मिलता। बाद में युद्ध की आवश्यकताओं से विवश होकर यहां भी गोला बारूद बनाने के कारखाने खड़े किए गए, जो बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था ताकि हिन्दुस्तान इस दृष्टि से विकसित होता और केवल जरूरत पड़ने पर ही उसे इस्तेमाल न किया जाता। अब जब लड़ाई छिड़ चुकी है तो युद्ध की दृष्टि से भारत की खनिज सम्पदा की खोज की जा रही है, जब कि इनकी खोज स्वयं भारत के हित के लिए पहले ही की जानी चाहिए थी और यदि भारत को स्वशासन मिला होता तो वह इसे स्वयं कर सकता था किन्तु वहां तो जर्मनी को खुली छूट मिली हुई थी कि वह खनिज पदार्थों की सप्लाई कर अपना एकाधिकार स्थापित कर ले। यदि भारत को पराधीन न रख कर बराबर का साझेदार रखा गया होता, तो इससे भारत अधिक धनवान् होता और साम्राज्य भी अधिक सुरक्षित रहता।

1885 के बाद कांग्रेस इस बढ़ते हुए सैनिक खर्च का बराबर विरोध करती आ रही है; मगर कांग्रेस की आवाज को भारत के पढ़े-लिखे वर्ग की, सच्चे देशभक्त और आबादी के सबसे ज्यादा निष्ठावान लोगों की आवाज न समझकर विद्रोहियों और महत्वाकांक्षी वर्ग की आवाज समझी गई। 1885 की प्रथम कांग्रेस में श्री पी० रंगिया नायडू ने ध्यान दिलाया था कि 1857 में सैनिक खर्च 1,14,63,000 पौण्ड था, जो

1884 में बढ़कर 1,69,75,750 पौण्ड हो गया। श्री डी०ई० वाचा ने 1859 की देशी रियासतों के विलय की योजना की चर्चा करते हुए कहा था कि 1856 में कम्पनी की सेना में 2,54,000 आदमी थे जिन पर 1,15,00,000 पौण्ड खर्च होता था, किन्तु 1884 में ब्रिटिश साम्राज्य के आधीन भारतीय सेना की संख्या 1,81,000 है जबकि उनका खर्च 1,70,00,000 पौण्ड हो गया। खर्च में यह वृद्धि मुख्यतः यूरोपीय सैनिक दलों की बढ़ी हुई लागत, सेना को एक जगह से दूसरी जगह लाने, ले जाने के लिए परिवहन, स्टोर, पेन्शन स्वदेश लौटने के भत्ते और इसी प्रकार के और न जाने कितनी तरह के खर्च हैं जो भारत सरकार के विरोध के बावजूद साम्राज्य के हितों के लिए लगाए गए थे। भारत सरकार ने इसकी शिकायत भी की थी कि यह सारे परिवर्तन साम्राज्य के हित को सामने रख कर किए जा रहे हैं जिसमें भारत के हित के विषय में न कुछ सोचा गया है और न उसकी कोई परवाह ही की गई है।

हर वर्ष कांग्रेस में सेना के बढ़े हुए खर्च पर विरोध प्रकट किया जाता रहा। 1902 तक यही सब होता रहा जबकि कांग्रेस ने भारत में स्थित अंग्रेज सैनिकों का वेतन वृद्धि की निन्दा की। इस वेतन वृद्धि से भारत पर 7,86,000 पौण्ड का अतिरिक्त वार्षिक भार पड़ता था। उस समय कांग्रेस ने ध्यान दिलाया था कि भारत में ब्रिटिश सैनिकों की संख्या अनावश्यक रूप से बहुत ज्यादा है। बाद में दक्षिण अफ्रीका और चीन के अभियानों के लिए बहुत से ब्रिटिश सैनिक ले जाए भी गए, जिससे यही सिद्ध होता है कि भारत में उस समय अंग्रेज सैनिकों की संख्या अनावश्यक रूप से बहुत अधिक थी। उसके अगले वर्ष कांग्रेस ने इस बात पर विरोध प्रकट किया कि बढ़ता हुआ सैनिक खर्च भारत को आन्तरिक अशान्ति और बाह्य आक्रमण से सुरक्षित रखने के उद्देश्य से नहीं, साम्राज्यवादी नीति को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से किया जा रहा है। भारत अपनी सेना के अलावा ब्रिटिश सेना के कुल खर्च का एक-तिहाई बोझ अकेले उठाए हुए है, जबकि दूसरे उपनिवेश इसमें कुछ हिस्सा नहीं लेते हैं या बहुत ही कम लेते हैं। अब जबकि साम्राज्य के लिए भारतीय सेना की सेवाओं की ओर ध्यान दिया जा रहा है, तो आशा है कि, इन तथ्यों को भी अवश्य याद रखा जाएगा।

1904 और 1905 में कांग्रेस ने घोषणा की थी कि अब यह सैनिक खर्च भारत की सामर्थ्य के बाहर हो गया है। 1905 में तो कांग्रेस ने लार्ड किचनर की सैनिक पुनर्गठन योजना के लिए स्वीकृत एक करोड़ स्टर्लिंग अतिरिक्त धनराशि को सेना के

बजाय शिक्षा और कृषि सुधार पर व्यय करने का भी अनुरोध किया। 1859 के बाद से ब्रिटिश सेना विभाग द्वारा भारत पर खर्च का जो बोझ बढ़ाया गया था, 1908 की कांग्रेस ने उसकी निन्दा की और उसके अगले वर्ष कांग्रेस ने ध्यान दिलाया कि भारत के कुल राजस्व आय का एक तिहाई भाग सेना पर खर्च हो रहा है जबकि देश शिक्षा और सफाई के मामले में कंगाल हैं।

लार्ड किचनर की पुनर्गठन योजना ने भारतीय सेना में युद्ध स्तर की मुस्तैदी ला दी, जिसे किसी भी समय कहीं भी भेजा जा सकता था। पहली जनवरी 1915 को भारतीय सेना में जो 2,47,000 सैनिक थे उनमें 75,000 अंग्रेज थे। भारत ने इतनी बड़ी सेना का खर्च उठा कर उसे हर समय युद्ध स्तर पर तैयार रखा जिसके फलस्वरूप ग्रेट ब्रिटेन पर संकट आते ही उसे वहां तुरन्त मदद के लिए भेजना सम्भव हो सका और जिसके बारे में मैं पहले संकेत कर चुकी हूं। भारत ने 1914-15 में सैनिक सेवाओं पर दो करोड़ पोण्ड व्यय किए, 1915-16 में यह रकम बढ़कर 2 करोड़ 18 लाख पौण्ड हो गई। अब 1917-18 में यह खर्च 2 करोड़ 20 लाख पोण्ड हो चुका है और आगे भी यह बराबर बढ़ता रहेगा।

इन सब कारणों को देखते हुए, जिनमें से एक का मैंने विस्तार से उल्लेख किया है, अब यह जरूरी नहीं रह जाता कि भारत ने ग्रेट ब्रिटेन और उसके मित्र राष्ट्रों को जो सहयोग दिया है, उसका शब्दों में वर्णन किया जाए। अब उसने ग्रेट ब्रिटेन के साथ अपने सम्बन्ध बनाए रखने के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहने की अपनी इच्छा पूर्णरूप से सिद्ध कर दी है। किन्तु यदि ग्रेट ब्रिटेन उसकी जन-शक्ति का पूर्ण उपयोग करना चाहता है और, जैसा कि लार्ड चेम्सफोर्ड ने जन-शक्ति आयोग में सुझाव भी दिया है, तो फिर वह जन-समूह जो परिश्रम करता है और युद्ध में लड़ता है तो फिर एक मानव के नाते उसका अपनी जन्मभूमि पर अधिकार भी हो जाता है। इस युद्ध से यदि कोई सबक मिलता है तो वह यही है कि साम्राज्य की भावी सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि भारत को होम रूल (स्वराज्य) प्राप्त हो। यदि भारत की जन-शक्ति का पहले से पूर्णरूप से उपयोग किया गया होता, तो फिर युद्ध छिड़ने का सवाल ही नहीं उठता था, क्योंकि उस स्थिति में, किसी की ग्रेट ब्रिटेन और भारत से उलझने की हिम्मत न होती। जब तक भारत पराधीन है उसकी जन-शक्ति का उपयोग नहीं किया जा सकता है। वह इतनी बड़ी सेना का बोझ कैसे उठा सकता है जबकि उसमें अंग्रेज फौजों का अतिरिक्त खर्च भी शामिल है, उनके आने-जाने का खर्च,

इंगलैण्ड से ऊंची कीमत पर सेना के लिए साज-सामान खरीदना और जरूरत पड़ने पर इंगलैण्ड वापस भेज देने का खर्च ऐसा खर्च है जिसे भारत कभी भी नहीं उठा सकता, वह इंगलैण्ड के लिए सैनिकों को प्रशिक्षण देने का खर्च नहीं उठा सकता जबकि उसे खुद उनकी सेवाओं का केवल पांच वर्ष के लिए लाभ मिलता हो। वह इंगलैण्ड में अपने सोने का विशाल सुरक्षित कोष रखने की स्थिति में भी नहीं है। उसे अपने सुरक्षित कोष से इंगलैण्ड को ऋण तो देना ही पड़ता है, और इसके साथ-साथ 27 करोड़ पौण्ड के करों के बोझ से लदे हुए भारत को युद्ध के खर्च के लिए नकद भुगतान के लिए तंग भी किया जाता है। मैंने एक बार इंगलैण्ड में कहा था कि, "भारत की वफादारी के लिए भारत की आजादी जरूरी है।" अब मैं उसमें इतना और जोड़ देना चाहती हूं कि "ब्रिटिश साम्राज्य में भारत की उपयोगिता बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि भारत स्वतंत्र हो।" भारत अपने ऊपर और अधिक कर लगा सकता है बशर्ते कि इन करों से प्राप्त रकम इसी देश में रहे और इस देश की उत्पादन शक्ति बढ़ाने के काम में खर्च हो, भारतवासियों को शिक्षित बनाने, उनकी उत्पादकता बढ़ाने, नए उद्योग-धन्धे खोलने और व्यापार में वृद्धि करने में खर्च हो।

भारत को जितनी ग्रेट ब्रिटेन की जरूरत है, ग्रेट ब्रिटेन को भी उतनी ही भारत की जरूरत है—केवल युद्ध से सुरक्षा के लिए ही नहीं, शान्ति के समय में खुशहाली के लिए भी। श्री मान्टेगू ने बहुत बुद्धिमानी की बात कही थी कि "युद्धकाल में साजोसामान देने वाले राष्ट्र को शान्तिकाल में आजादी की आवश्यकता होती है।" इसलिए मैं कहती हूं कि इस युद्ध से दोनों देशों के लिए यही सीख मिलती है कि भारत में होम रूल स्थापित किया जाए।

अपने भाषण का यह अंश समाप्त करने से पहले मैं यहां उपस्थित हजारों लोगों की ओर से महामहिम सम्राट के चरणों में प्रेम भरी श्रद्धा इस आशा और विश्वास के साथ अर्पित करती हूं कि वह दिन दूर नहीं है जब हम एक स्वतंत्र राष्ट्र के नाते अपनी कृतज्ञता और श्रद्धा भी अर्पित कर सकेंगे।

भारत में नई जागृति

भारत में इधर कुछ वर्षों से नई जागृति के जो चिह्न दिखाई दे रहे हैं, वह पूर्व और पश्चिम के विचारों के स्वाभाविक आदान-प्रदान का परिणाम तो हैं ही, किन्तु उसके अलावा अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी साहित्य और आदर्शों, यूरोप, जापान और अमेरिका

की यात्राओं तथा कुछ अन्य बातों के प्रभाव का भी परिणाम है, जिन्होंने भारत के आचार-विचार को भी प्रभावित किया है। इन कारणों को संक्षेप में इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है : (क) एशिया की जागृति, (ख) विदेशी शासन के बारे में बाहर के देशों में चर्चा और साम्राज्य का पुनर्गठन, (ग) श्वेत जाति की श्रेष्ठता के विश्वास का निर्मूल होना, (घ) व्यापारी वर्ग में जागृति, (च) अपने प्राचीन स्तर की मांग के लिए महिलाओं में जागृति और (छ) जनसाधारण में व्याप्त जागृति।

भारतीय राष्ट्र के आचार-विचार में यह भव्य परिवर्तन लाने में इन सभी का अपना-अपना हिस्सा है। इसने भारतवासियों के मन में अपने देश के गौरव को बढ़ाया है और उनमें स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता, प्रतिष्ठा और आत्म-सम्मान की भावना जागृत की है। इस युद्ध ने संसार में विकास की गति को तेज़ कर दिया है और इस तेज़ गति का अनुभव सबसे अधिक हमारे देश ने किया है।

लार्ड मिन्टो के भारत का वायसराय बनकर आने के बाद मेरी उनसे बातचीत हुई थी और यह बातचीत भारत में व्याप्त अशान्ति के विषय में थी। वह इस बात को मानते थे कि यह अशान्ति अंग्रेज़ी शिक्षा, जनतन्त्र के प्रति अंग्रेज़ों के आदर्श, रूस पर जापान की विजय तथा बाहरी दुनिया की बदलती हुई परिस्थितियों का परिणाम है। इसलिए मुझे उनकी यह टिप्पणी पढ़कर आश्चर्य नहीं हुआ कि 'लोगों के दिलों में नई आकांक्षाएं उत्पन्न हो रही हैं और इस प्रकार के आन्दोलन में भारत अकेला नहीं है बल्कि व्यापक रूप से यह आन्दोलन सम्पूर्ण पूर्वी देशों में चल रहा है। अब यह आवश्यक हो गया है कि लोगों को शासन में शरीक करके उनकी आकांक्षाओं को एक सीमा तक पूरा होने का अवसर दिया जाए।'

लेकिन भारत में इस समय जो आन्दोलन चल रहा है, उसे केवल पूर्वी देशों में चल रहे आन्दोलन के सन्दर्भ में ही देखना उसका सही मूल्यांकन नहीं होगा। एशिया में आज जो जागृति आई है वह समस्त विश्व में चल रहे आन्दोलन का अंग है। विश्व-युद्ध ने इस आन्दोलन की गति को अत्यधिक तीव्र कर दिया है। इस विश्व-व्यापी आन्दोलन की दिशा जनतंत्र की ओर उन्मुख है, पश्चिमी देशों में इस आन्दोलन की शुरुआत 1776 में अमेरिकी उपनिवेशों की ग्रेट ब्रिटेन से पूर्णतया पृथक होने के साथ ही होती है और इसके परिणाम 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति में मिलते हैं। यहां यह बताने की जरूरत नहीं है कि उस आन्दोलन की उत्पत्ति बौद्धिक दासता के ताने-बाने को नष्ट करते हुए आधुनिक विज्ञान के विकास और विश्वविज्ञानकोष के रचयिताओं

तथा ज्यां जेक रूसो एवं थामस पेन की कृतियों के प्रभाव से हुई थी। पूर्व में जापानी साम्राज्य की रूस पर विजय, चीन में शाही मंचू वंश का पतन तथा जनतंत्र की स्थापना, ईरान में स्थिति के सुधार के प्रयत्न जिसमें रूस तथा ब्रिटेन अपनी महती आकांक्षाओं के कारण, विघ्न डाल रहे थे और बाद में उसकी स्वतंत्रता की उपेक्षा कर वहां अपने-अपने 'प्रभाव क्षेत्रों' की स्थापना के अलावा अभी हाल की रूसी क्रान्ति और उसके परिणामस्वरूप यूरोप और एशिया में रूसी गणराज्य की स्थापना के लक्षणों ने भारत के सामने स्थिति में आमूल परिवर्तन ला दिया है। भारत के सामने कभी यह परिस्थितियां नहीं थीं अब उसे हिमालय पहाड़ के उस पार एशिया के स्वतंत्र और स्वशासी राष्ट्र दिखाई देते हैं। अब भारत के लोग अपने पड़ोसी देशों पर रूस के जार या चीन के निरंकुशवादी सम्राट का आधिपत्य नहीं देखते, पहले वह इन देशों की प्रजा के साथ ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत अपनी स्थिति से मुकाबला किया करते थे। 1905 के पहले तक तो इस तुलना में ब्रिटिश शासन फायदे में रहता था, किन्तु उसके बाद से हालत गिरनी शुरू हो गई। किन्तु भविष्य में जब तक उसे स्वशासन नहीं मिल जाता है, भारत इन देशों की स्थिति को मुकाबले की दृष्टि से देखकर उनसे ईर्ष्या करेगा और इससे उसका असन्तोष और बढ़ेगा।

किन्तु यदि उसे होम रूल मिल जाता है और मुझे विश्वास है कि यह मिलकर रहेगा, तो फिर साम्राज्य के अन्दर उसकी स्थिति ऐसी हो जाएगी कि वह स्वतंत्र भी हो और शक्तिशाली भी। स्वशासन प्राप्त करने के बाद साम्राज्य में भारत की स्थिति बहुत नाजुक हो जाएगी और उसे एशियाई राष्ट्रों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता से भी बचाना होगा। श्री लैंग ने एक बार कहा था कि "भारत इंगलैण्ड की दुधारी गाय है" जिसे आप कामधेनु कह सकते हैं। किन्तु यह विचार जहां एक बार एशिया में जड़ पकड़ गया तो फिर इस कामधेनु के स्वामित्व पर उसी प्रकार झगड़ा खड़ा हो जाएगा कि प्राचीन युग में कामधेनु के स्वामित्व पर वशिष्ठ और विश्वामित्र के बीच हुआ था। अतः यह आवश्यक है कि भारत को इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि वह स्थल और समुद्र हर ओर से अपनी रक्षा कर सके। एशिया में श्रेष्ठता और प्रभुत्व के प्रश्न पर संघर्ष चल सकता है, प्रशान्त सागर पर किसका प्रभुत्व रहे और आस्ट्रेलिया पर कौन अधिकार करे, ये बातें उठ सकती हैं। फिर व्यापार के संघर्ष की भी समस्या है, जिसमें जापान अभी से भारतीय व्यापार और उद्योग के लिए खतरा बनता जा रहा है, और भारत है कि स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकता।

इन बड़े प्रश्नों का धैर्य के साथ सामना करने के लिए साम्राज्य के लिए आवश्यक है कि आत्मसन्तुष्ट, स्वशासित और सैनिक दृष्टि से मज़बूत भारत उसके साथ हो, जो अपनी रक्षा भी कर सके तथा अन्य उपनिवेशों की रक्षा में भी मदद करे विशेष रूप से आस्ट्रेलिया की रक्षा करने में, जहां बहुत थोड़ी आबादी है और बहुत बड़े क्षेत्र पर न तो अधिकार किया गया है और न उसकी रक्षा की अभी तक व्यवस्था की गई है। भारत ही एक ऐसा देश है, जहां इतनी विशाल जन-शक्ति मौजूद है, जो एशिया में दृढ़ता से साम्राज्य को बनाए रख सकती है। यह एक बहुत बड़ी गलती है, बल्कि मैं इसे अपराध और अदूरदर्शिता भी कहूंगी कि भारत को ब्रिटिश सम्राट के अधीन स्वतंत्र राष्ट्रों के राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत एक स्वशासी राष्ट्र के रूप में उसे शक्तिशाली बनाने की नीति नहीं अपनायी जा रही है। भारत में अंग्रेज लोग अपने हित की बातें तो बहुत जोर शोर से करते हैं लेकिन मैं पूछती हूं, कि आगे चलकर यदि यहां भी आक्रमण होता है तो फिर यह मुट्ठी-भर लोग अपने हितों की रक्षा किस प्रकार कर सकेंगे ? जो लोग जापानी समाचारपत्र पढ़ते हैं, उन्हें मालूम है कि इस जंग के दौरान जर्मनी के साथ उन लोगों की सहानुभूति किस प्रकार प्रदर्शित होती रहती है और इस जंग के बाद इन दोनों महत्त्वाकांक्षी और युद्ध-प्रिय देशों के बीच समझौता हो जाने की कितनी अधिक सम्भावना है। इस युद्ध के बाद जापान की स्थल और नौ सेना आज ही की तरह शक्तिशाली रहेगी और उसका व्यापार पहले से कहीं अधिक बढ़ा हुआ होगा। सफल कूटनीति की यह मांग है कि इंगलैण्ड जापान के मुकाबले भारत पर अधिक भरोसा करे। एशिया में ब्रिटेन को जापान जैसे राष्ट्र की दोस्ती पर भरोसा नहीं करना चाहिए क्योंकि जापान भविष्य में उसका प्रतिद्वन्द्वी बन सकता है। एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य भारतवासियों की वफादारी की मजबूत बुनियादों पर टिका रह सकता है, किन्तु उसके लिए जरूरी है कि वफादारी एक सन्तुष्ट और स्वतन्त्र लोगों की वफादारी हो। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में मित्रता राष्ट्रीय हितों को सामने रखकर बनाई बिगाड़ी जाती है, यह दोस्ती ठोस आधारों पर नहीं होती और बालू के महल की तरह हवा के हर झोंके से धराशायी होती रहती है।

भारत में जो अंग्रेज रह रहे हैं उन्हें अपने दिमाग से यह ख्याल निकाल देना चाहिए कि, भारत में अपनी पूंजी और हितों की रक्षा के लिए जो 1915 में 36 करोड़ 53 लाख 99 हज़ार पौण्ड के लगभग थी, भारत पर आधिपत्य बनाए रखना जरूरी है। जबकि, उन्होंने अमेरिका में 68 करोड़ 80 लाख 78 हज़ार पौण्ड की पूंजी

लगी होने पर भी वहां अपने आधिपत्य बनाने का दावा नहीं किया। अर्जेण्टाइना में भी उनके 26 करोड़ 98 लाख 8 हज़ार पोण्ड लगे हुए हैं, मगर उसके आधिपत्य का भी इन लोगों ने दावा नहीं किया, तो फिर केवल भारत ही के लिए यह बात क्यों कही जाती है ? ब्रिटेन निवासियों को अपने दिल से यह बात निकाल देनी होगी कि भारत उनकी सम्पत्ति है और अपने फायदे के लिए जैसे चाहे वह उसका शोषण करते रहें, उन्हें भारत को अपना दोस्त, बराबर का साथी, साम्राज्य के अन्दर एक स्वशासी इकाई, अपने ही जैसा एक राष्ट्र समझना चाहिए, जो उनके अधीन नहीं बल्कि अपनी इच्छा से साम्राज्य में साझीदार बनने को तैयार है। जापान, चीन और रूस के एशियाई भाग में चल रहे लोकतांत्रिक आन्दोलनों ने भारत को सहानुभूतिपूर्वक प्रभावित किया है और यह कहना बेकार है कि यह प्रभाव खत्म हो जानेवाला है।

लेकिन इनके अतिरिक्त कुछ और प्रेरक तत्व भी हैं जो भारत में गतिशील रहे हैं। ब्रिटेन वालों का रवैया यूरोप में तो स्वतंत्रता की रक्षा और निरंकुशवाद के विरोध में था, किन्तु स्वयं भारत के बारे में अभी कुछ दिन पहले तक एक भ्रम बना हुआ था। इसीलिए मैंने इससे पहले यह बात कही थी कि दो राष्ट्रों के मिलन का एक अनूठा अवसर खो दिया गया। भारत ने शुरू में पूरी तरह यह विश्वास कर लिया था कि ब्रिटेन समस्त राष्ट्रों की स्वाधीनता की रक्षा के लिए लड़ रहा है। अब भी श्री ऐसक्विथ ने कामन सभा में गत अक्तूबर में श्री रैम्ज़े मैक्डोनल्ड के शान्ति प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा था कि, "मित्र राष्ट्र केवल आज़ादी की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं," अपने भाषण में उन्होंने घोषणा की थी कि ब्रिटेन ऐल्सस-लरेन की वापसी के लिए फ्रांसीसी दावे का समर्थन करेगा। अपने इस भाषण में उन्होंने "विदेशी दासता के असह्य अपमानों" का भी उल्लेख किया था। किन्तु यहां (भारत) के मुकाबले में ऐल्सस-लरेन में विदेशी दासता तो कहीं कम असह्य और अपमानजनक है क्योंकि वहां शासक और शासित दोनों में यूरोपीय खून है, दोनों के धर्म और आचार व्यवहार भी एक जैसे हैं। जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया भारत ने धीरे-धीरे और अनमने भाव से यह महसूस करना शुरू किया है कि ब्रिटेन की निरंकुशतावाद के प्रति घृणा केवल पश्चिमी राष्ट्रों तक सीमित है और विदेशी शासन का अपमान केवल गोरी चमड़ी वालों के लिए ही असह्य समझा जाता है; तथा यह कि उनका स्वाधीनता का वायदा सबके लिए है, और नहीं है, तो वह केवल भारत के लिए; नए अधिकार डोमिनियनों (स्वशासन प्राप्त उपनिवेश) को तो दिए जाएंगे लेकिन भारत को नहीं। साम्राज्य के भविष्य की

बात करने वाले कूटनीतिज्ञों के भाषणों में कहीं भारत का नाम नहीं लिया जाता, और बाद में, तो साफ-साफ कहा जाने लगा कि साम्राज्य केवल श्वेत जाति के लिए है, अर्थात् केवल पांच राष्ट्रों के लिए, जिनके संरक्षण में तमाम अश्वेत जातियां होंगी। इसका अर्थ स्पष्ट था कि 'अश्वेत जातियां' सदा के लिए उनके अधीन हो गई और जो कभी परिपक्वता की स्थिति को नहीं पहुंच सकतीं।

यह बड़ा विकट संकट था, और तरह-तरह की आशंकाओं का होना स्वाभाविक था। साम्राज्य का पुनर्निर्माण विचाराधीन था, भारत का उसमें क्या स्थान होगा? डोमिनियनों को साम्राज्य में साझेदार बनाया जा रहा था, तो क्या भारत परतंत्र ही रहेगा? इस तरह के सवाल उठ रहे थे। जब मौका बिलकुल गरम था तो श्री बोनर ला ने डोमिनियनों से कहा कि वे जोर लगाएं; क्या भारत को मौका ठण्डा हो जाने अर्थात् हाथ से निकल जाने तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। भारत ने अपने सैनिकों को फ्लैण्डर्स, फ्रांस, गैलीपोली, एशिया कोचक, चीन और अफ्रीका में लड़ते हुए देखा, किन्तु वह क्यों लड़ रहे हैं जबकि इस आजादी में उन्हें कोई हिस्सा नहीं मिलना है? आखिर उससे न रहा गया, भारत अपने पैरों पर खड़ा होकर अपने एक होनहार सपूत के शब्दों में बोल उठा, "आजादी हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है हम उसे ले के रहेंगे।" होम रूल शब्द उसका मूल मंत्र बन गया। उसने साम्राज्य में अपने हिस्से का दावा किया।

भारत इस युद्ध में सहायता देता रहा, साम्राज्य के लिए लड़ी जाने वाली इस लड़ाई में उसकी फौजें लड़ती रहीं, अस्पतालों और जहाजों के लिए पानी की तरह अपनी सम्पत्ति बहाई, युद्ध कोष और रेडक्रास संगठन और युद्ध ऋण पत्रों में उसने भी दिल खोलकर रुपया लगाया, किन्तु इसी के साथ एक डर भी उसके दिल में समाता रहा : साम्राज्य के लिए लड़ा जानेवाले इस युद्ध की सफलताओं से कहीं उसकी अपनी ही आजादी में कटौती न कर दी जाए; क्योंकि इस युद्ध के लिए जो कुछ किया जा रहा था उसका आदेश खुद उसके अपने लोगों की तरफ से नहीं मिलता था।

साम्राज्य के मामलों में भारत सरकार के राय देने के अधिकार को मान्यता दिए जाने के प्रश्न पर एक सम्मेलन में विचार किया जाना सही दिशा में एक कदम था। किन्तु इस सम्मेलन में इस बात को देखकर बहुत निराशा हुई कि वहां दूसरे देशों का प्रतिनिधित्व वहां के उत्तरदायी मंत्री कर रहे थे, वहां भारत का प्रतिनिधित्व एक ऐसी सरकार कर रही थी, जो न तो, भारत वालों की प्रतिनिधि सरकार थी और न उनके

सामने उत्तरदायी ही थी। प्रतिनिधित्व करने के लिए कौन चुना गया इसमें कोई आपत्ति न होते हुए भी चुनाव का ढंग अवश्य आपत्तिजनक रहा क्योंकि यह चुनाव सरकार के बदले सर्वोच्च परिषद के निर्वाचित सदस्यों को करना चाहिए था।

इस साम्राज्य सम्मेलन में 'भारतीय प्रतिनिधि' के भाग लेने को युगान्तकारी घटना बताया गया। किन्तु भारत का प्रतिनिधित्व किया किसने ? यह प्रतिनिधित्व भारत में ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों ने किया था, जबकि सम्मेलन में भाग लेने वाले अन्य प्रतिनिधि अपने-अपने राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि वे योग्य और अनुभवी लोग थे और उन्होंने सम्मेलन में अच्छा काम किया, यद्यपि व्यापार आदि में साम्राज्यी रियायतें तथा कुछ हद तक अनुबन्धित श्रमिकों के प्रश्न पर वह असफल रहे। फिर भी हम आशा करते हैं कि सम्मेलन में, भारत में जन्म लेने वाले एक व्यक्ति की उपस्थिति ने अपने सहयोगी प्रतिनिधियों पर यह प्रभाव डाला होगा कि भारत अभी पराधीन राष्ट्र जरूर है, किन्तु उसके सपूत पूरी तरह उनके ही समान हैं।

लोक सेवा आयोग की रिपोर्ट से भी लोग बहुत निराश और क्षुब्ध हुए। अब प्रचलन न होने के कारण इस पर चर्चा करना बेकार भी है। इसकी रिपोर्ट में कहा गया था, कि आयोग के अधिकांश सदस्यों का मत था कि भारतीय प्रशासन पर अंग्रेजों का आधिपत्य अभी बहुत दिनों तक बना रहेगा; और अब से 30 वर्ष बाद भी आई० सी० एस० और पुलिस सेवा में उच्च स्थानों पर केवल 25 प्रतिशत भारतीय लिए जाएंगे। लेकिन आयोग का उल्लेख करते हुए मैं न्यायमूर्ति रहीम का नाम लिए बिना नहीं रह सकती, जिन्होंने अभूतपूर्व साहस दिखाते हुए आयोग की रिपोर्ट में अपना विमत लिखाया था। मैं भारत की ओर से उनका आभार प्रकट करती हूं कि उन्होंने आयोग की रिपोर्ट को ठुकराते हुए भारतीय सिविल सेवा में नियुक्तियों के लिए कुछ स्वस्थ सिद्धान्तों का निरूपण किया।

इस आयोग में भारत के तीन प्रतिनिधि थे जिनमें से श्री गोपाल कृष्ण गोखले आयोग की रिपोर्ट लिखे जाने से पूर्व ही परलोक सिधार गए थे। श्री गोखले को अपने काम में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और अपने देश वालों के साथ अपमान का जो बर्ताव होते उन्होंने देखा उससे ही उनकी मृत्यु इतनी जल्दी हो गई। दूसरे सदस्य, न्यायमूर्ति अब्दुल रहीम का उल्लेख मैं अभी कर चुकी हूं। तीसरे सदस्य माननीय श्री एम० बी० चौबल ने रिपोर्ट पर हस्ताक्षर किए किन्तु कुछ महत्वपूर्ण

सुझावों से अपना विमत भी प्रकट किया। अब यह रिपोर्ट बीते युग की एक यादगार मात्र रह गई है।

इन सब कारणों से भारत अपना भविष्य शाश्वत पराधीनता के रूप में देखने के लिए बाध्य हुआ। ब्रिटेन वाले ग्रेट ब्रिटेन पर, फ्रांस वाले फ्रांस पर, अमेरिका वाले अमेरिका पर, हर डोमिनियन वाले अपनी डोमिनियन पर शासन करें, दुनिया में केवल भारत वाले ही रह गए हैं जो दुनिया में कहीं शासन न करें और न अपने देश को ही अपना देश महसूस करें। "ब्रिटेन अंग्रेज़ों का" कहना तो सही और स्वाभाविक है; किन्तु "भारत, भारतीयों का" कहना गलत है और राजद्रोह भी। भारत तो बस ऐसा हो कि वह साम्राज्य के काम आए चाहे उसका अपना कुछ भी न बने। ब्रिटेन में "ब्रिटिश व्यापार के लिए सहयोग" का नारा तो सही और देश-प्रेम का प्रतीक था; किन्तु भारत में, "भारतीयों के लिए स्वदेशी माल" का नारा क्षुद्र और साम्राज्य-विरोधी भावना का परिचायक था। श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने एक बार कहा था कि वह "हीनता के वातावरण" में रह रहे हैं। भारत वालों को इस हीन वातावरण में और वह भी कृतज्ञतापूर्वक अभी बहुत दिनों तक रहना था, जिसमें उसे (बिना किसी प्रकार के अधिकार के) एक साम्राज्य का नागरिक होने पर गर्व करना था जबकि अन्य घटक राष्ट्रों के नागरिक (अपने अधिकारों के साथ) पहले अपने देश के और फिर उसके बाद साम्राज्य के नागरिक थे। ग्रट ब्रिटेन के प्रति उनके विश्वास में पड़ी हुई यह दरार टूटने के करीब थी, कि लार्ड मान्टेगू की भारत सचिव के पद पर नियुक्ति का शुभ समाचार पहुंचा। इसी के साथ-साथ यह खबर भी पहुंची कि भारत के वायसराय के निमंत्रण पर वह स्वयं भारत आकर भारत की इच्छाओं और आकांक्षाओं का प्रत्यक्ष मूल्यांकन करने वाले हैं। गहरे अन्धकार को चीरती हुई यह खबर एक किरण बनकर आई; ग्रेट ब्रिटेन में लोगों की आस्था फिर से जाग उठी और एक शुभचिन्तक के स्वागत की तैयारियां होने लगीं।

भारत सरकार तथा ग्रेट ब्रिटेन के बदले हुए व्यवहार के अनुकूल भारत का भी आचार-व्यवहार बदल गया। किन्तु इस बदले हुए व्यवहार के कारण किसी को यह अनुमान न लगा लेना चाहिए कि स्वशासन की प्राप्ति के उसके निश्चय में कोई परिवर्तन आया है। भारत शान्ति के किसी भी प्रस्ताव पर विचार करने के लिए तैयार है; किन्तु यह शान्ति सम्मानपूर्ण होनी चाहिए और यहां सम्मान का अर्थ है

आज़ादी। यदि यह आज़ादी नहीं मिलती है तो फिर इसके लिए और भी तीव्र आन्दोलन चलाए जाएंगे।

आर्य समाज तथा थियोसाफिकल सोसायटी की स्थापना ने श्वेत जाति की श्रेष्ठता के विश्वास का खोखलापन जाहिर कर दिया है। इन दोनों संगठनों ने भारत-वासियों को स्वयं अपनी सभ्यता के महत्त्व को महसूस कराया है। उनमें उसके अपने प्राचीन के प्रति गर्व, वर्तमान के प्रति आत्मसम्मान और भविष्य के प्रति आत्मविश्वास की भावना जागृत कराई है। इन दोनों संगठनों ने हर चीज़ में पश्चिम के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति को खत्म कर उनमें पश्चिमी विचारों तथा सभ्यता की अच्छी बातें चुनने का विवेक पैदा किया है। एक और महान शक्ति थी स्वामी विवेकानन्द की, भारत के प्रति अर्थात प्रेम और आदर ही नहीं था, वरन उन्होंने उन बुराइयों पर भी प्रकाश डाला जो पश्चिम में भौतिकवादी सभ्यता की उपज थीं।

यूरोपीय विद्वानों और दार्शनिकों द्वारा संस्कृत साहित्य के प्रति सम्मान से भी यह प्रक्रिया आगे बढ़ी। किन्तु इन सबका प्रभाव केवल कुछ ही लोगों तक सीमित था और बहुतों को तो, इन बातों का कोई ज्ञान भी नहीं था। रूस पर जापान की विजय, श्वेत जाति की श्रेष्ठता के उनके विश्वास पर पहली करारी चोट थी। पूर्वी दुनिया के एक छोटे से राष्ट्र द्वारा इतनी बड़ी यूरोपीय शक्ति की पराजय ने रूसी नेताओं की दुर्बलता और खोखलेपन की पोल खोल दी, जिसका मुकाबला परिश्रमी, साहसी और अपने देश के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने वाले लोगों से हुआ था।

दूसरा धक्का लगा है जर्मन के राज्य सिद्धान्तों की स्पष्ट पाशविकता और विजित प्रदेशों के साथ किए गए उनके नृशंस व्यवहार से, जिसके अन्तर्गत नए प्रदेशों को जीत कर वहां नृशंसता का नंगा नाच नाचा गया और वापस लौटते हुए उन प्रदेशों को तहस-नहस कर दिया गया। बिस्मार्क के विचारों और रणक्षेत्रों में उसके क्रियात्मक प्रयोगों ने फ्रांस, फ्लैण्डर्स, बेल्जियम, पोलैण्ड और सर्बिया को उजाड़ कर एशिया पर ईसाई दुनिया की श्रेष्ठता की शान को चकनाचूर करके रख दिया। उसने सिद्ध कर दिया कि अपनी शानदार सभ्यता की चमक-दमक पर एक-एक ऊपरी परत चढ़ी हुई है, और वहां धर्म, जीवन का विषय न रहकर केवल बाह्य आचरण का नाम रह गया है। दूर से मृतकों और अपंगों के इन ढेरों को और विज्ञान को विनाश का पिशाची रूप धारण करते देख कर यदि एशिया अपनी सभ्यताओं और धर्मों को अपेक्षाकृत अच्छा समझे तो (मुझे आशा है) उसे क्षमा कर दिया जाएगा।

किन्तु युद्ध की बाहरी तबाहियों से ज्यादा जिस चीज ने सन्देह उत्पन्न किया, वह थी राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता के आदर्शों की वास्तविकता के प्रति सन्देह, जिनकी घोषणा पश्चिम के प्रमुख राष्ट्र ने जोरदार शब्दों में की थी। लोगों के मन में सन्देह उत्पन्न होने लगा था कि क्या यह राष्ट्र वास्तव में इन आदर्शों की रक्षा करेगा। सर जेम्स मेस्टन ने अभी कुछ दिन पहले यह ठीक ही कहा था कि अपने लम्बे अनुभवों में उन्होंने भारतीयों के अन्दर व्याप्त अविश्वास और सन्देह की भावना की इतनी कमी नहीं देखी, जितनी कि आज दिखाई देती है और यह ठीक भी है। भारतवासियों को एक जमाने से वायदे और आश्वासन दिए जा रहे हैं और उनको पूरा न किए जाने से उनमें रोष और गुस्सा भी चला आ रहा है। राजनीतिक दमन की व्यवस्था यहां कायम है और 1905 के बाद से अपनाए जा रहे दमनकारी उपाय नित्य प्रति बढ़ रहे हैं और कठोर होते जाते हैं। इस युद्ध के छिड़ने के बाद से इस निरंकुशवादी व्यवस्था के बड़े पैमाने पर प्रयोग से यह अविश्वास और भी बढ़ा है विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जबकि यह युद्ध राष्ट्रों की सुरक्षा और सन्धियों की पवित्रता बनाए रखने के उद्देश्य से लड़ा जा रहा है। यह अविश्वास उसी स्थिति में दूर हो सकता है जबकि स्पष्ट और साहसपूर्ण नीति अपनाकर अब तक के उपेक्षित सुधारों को पूरी ईमानदारी से क्रियान्वित करने की दिशा में तुरन्त कदम उठाए जाएं। छोटे-मोटे हेर-फेर करने वाली राजनीति का युग बीत चुका है, अब बुद्धिमानी के और सुनिश्चित ढंग से परिवर्तन लाने का युग है।

इन कारणों के साथ एक और बात भी जोड़ देनी चाहिए, भारत की कुछ देशी रियासतें कई मामलों में ऐसे प्रगतिशील कदम उठा रही है, जिनसे लोगों की खुशहाली बढ़ रही है; इसकी तुलना में ब्रिटिश सरकार के अन्तर्गत बहुत मन्दगति से विकास हो रहा है। भारत में रहने वाला जानता तो है कि यह प्रगति देशी शासकों और उनके स्व-जातीय मंत्रियों के मार्गदर्शन में हो रही है। वह जब यह देखता है कि मैसूर जनप्रतिनिधि सभा में दिए गए सुझावों पर पूरी तरह ध्यान दिया जाता है, तब उन्हें यह बात महसूस होती है कि यह सदस्य ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत गठित विधान सभाओं से ज्यादा अधिकार रखते हैं। वह देखता है कि इन रियासतों में शिक्षा का प्रसार हो रहा है, नए-नए उद्योग-धन्धे फल-फूल रहे हैं और ग्रामवासियों को अपने मामले स्वयं निपटाने और अपनी जिम्मेदारियों को निभाने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है, तो उसे आश्चर्य होता है कि भारतीय अयोग्यता में ब्रिटिश योग्यता की अपेक्षा इतनी अधिक कार्यकुशलता क्यों है ?

शायद। भारतीयों के लिए भारतीय शासन ही सबसे अच्छा हो।

व्यापारी वर्ग में जागृति

नए भारत के निर्माण में जिन तत्वों ने योग दिया है, उनमें व्यापारी वर्ग की जागृति और राजनीतिक जीवन में उनका पदार्पण सबसे प्रमुख है, जिसमें आगे की बहुत-सी सम्भावनाएं जुड़ी हुई हैं। 1915 में सर दोराब टाटा ने बम्बई के औद्योगिक सम्मेलन में उद्योग और राजनीति को एक धागे में बांधने की आवश्यकता पर जोर दिया था। राजनीति और उद्योग का यह मेल अब होने जा रहा है। अभी तक व्यापारी वर्ग अपने ही धन्धों में डूबे रहते थे, लेकिन युद्ध ने उन्हें चौंका दिया। यह देखकर कि सरकार के रुख के कारण किस प्रकार उनका धन्धा खतरे में पड़ जाता है, वह राजनीति में दिलचस्पी लेने की आवश्यकता समझ चुके हैं। उन्होंने देखा कि जर्मन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले उद्योग, सरकार की ओर से संरक्षण दिए जाने से इनकार किए जाने के कारण, जंग के साथ ही तबाह हो गए। जर्मनी जिन आवश्यक वस्तुओं को देता था, उनके निर्माण के लिए देश में उद्योग-धन्धे स्थापित करने के लिए धन न मिलने और युद्ध के बहाने विदेशी व्यापार पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगने के कारण बहुत तरह के उद्योगों के विकसित होने (फलने-फूलने) के मार्ग में बाधा पड़ी। लड़ाई छिड़ जाने से मुद्रा बाजार पर जो संकट आया, उसे दूर करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया। यहां के धनी व्यापारियों के पास अपनी साख बनाए रखने के लिए नकद रुपया नहीं रहा, उनके ऋणी अंग्रेज व्यापारी उनके पास रुपया नहीं भेज सकते थे। बहुत से व्यापारी तो अपनी साख बनाए रखने के लिए अवमूल्यित सरकारी प्रपत्रों को जबर्दस्त घाटे पर बेचने के लिए विवश भी हुए। कुछ स्थानों पर सप्लाई किए हुए सामान के नकद मूल्य के बदले उन्हें युद्ध पत्रक दिए गए। कहीं कम कहीं अधिक, लगभग यही स्थिति भारत के सभी क्षेत्रों में रही। बम्बई के धनिक और बड़े व्यापारियों को इसमें मद्रास के व्यापारियों की अपेक्षा अधिक घाटा उठाना पड़ा, जिनकी कठिनाइयों से सम्भवतः मैं अधिक अच्छी तरह परिचित हूं।

प्रेसीडेन्सी बैंक के पक्षपातपूर्ण व्यवहार से इन व्यापारियों की कठिनाई और भी बढ़ गई थी। यह बैंक भारतीय ग्राहकों की अपेक्षा अंग्रेज ग्राहकों का पक्ष लेता और उन्हें फायदा पहुंचाता। बैंक के निदेशक मण्डल में किसी भारतीय के न होने की, कई साल से, शिकायत की जाती रही थी; किन्तु व्यापारियों को सबसे अधिक चिन्ता

प्रपत्रों के मूल्य गिर जाने से थी। आवश्यकता पड़ने पर इन प्रपत्रों को वेचने से जो भारी घाटा होता था, वह तो होता ही था, साथ ही सरकारी हुण्डियों का मूल्य इस तरह गिर जाने से सरकार के स्थायित्व के प्रति भी शंका उत्पन्न होने लगी थी।

इस युद्ध ने सरकार का ध्यान भारत के असीम प्राकृतिक साधनों के उपयोग की ओर आकर्षित किया है और वायसराय महोदय का कहना है कि इन साधनों का इस प्रकार उपयोग किया जाएगा जिससे भारत अधिक-से-अधिक आत्मनिर्भर बनता जाए और तैयार माल के लिए दूसरों पर निर्भर न रहे। हम इस विचार का दिल से समर्थन करते हैं। भारतवासी एक जमाने से कहते आ रहे हैं। भारत अपने मौसम और भूमि की विविधताओं से लाभ उठाकर न केवल अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है, बल्कि अतिरिक्त सामान बाहर भी भेज सकता है। 17वीं शताब्दी में फिन्चीमोर ने भारत के विषय में यही बातें कही थीं। किन्तु पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी, उसके बाद ब्रिटिश सरकार और अब इधर हाल में साम्राज्यवादी व्यापारियों के शोषक दल बराबर यही आग्रह करते रहे कि भारत को कच्चे माल का उत्पादन कर उसे तैयार माल बनाने के लिए बाहर भेजना चाहिए और फिर वहां से विशेष रूप से साम्राज्य के अन्दर से तैयार माल खरीदना चाहिए। जैसा कि मैकाले ने संकेत किया है, ब्रिटिश उद्योगों के अभूतपूर्व विकास के साथ ही भारत की कंगाली भी शुरू हुई है। वर्तमान वायसराय द्वारा इस नीति के बदले जाने से भारत उनका चिर ऋणी रहेगा, किन्तु इसके लिए यह शर्त है कि वह भारत में ब्रिटिश उद्योगों को स्थापित न करके भारतीय उद्योगों की स्थापना कराएं। उद्योग आयोग के सम्मुख दी गई एक साक्षी में कहा गया था कि भारत को ऐसी चीज़ों का उत्पादन करना चाहिए जिनका बाहर उपयोग हो सके अर्थात् वही बात जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी चाहती थी कि भारत कच्चे माल की सप्लाई का स्थान बना रहे। वर्तमान वायसराय महोदय मुझे क्षमा करेंगे, यदि पुराने अनुभवों के आधार पर हमारे मन में इस प्रकार की शंकाएं उठती हैं, हम इस बात को कभी नहीं भूल सकते कि एक शताब्दी पूर्व मध्य प्रदेश में लोहे की खदान होने का पता चला था किन्तु उस धातु के निकलवाने की दिशा में अब तक कुछ नहीं किया गया—क्योंकि उस समय इंगलैण्ड दुनिया की लोहे की दुकान था और खूब नफ़ा कमा रहा था, वह नहीं चाहता था कि दुनिया का कोई अन्य देश उसका प्रतिद्वन्द्वी बने। इस काम को अपने हाथ में लेना टाटा के लिए रह गया है और उनका तीस रुपये का शेयर आज बाजार में

1,180 रुपये का बिक रहा है। उन्होंने एक बहुत बड़ा उद्योग शुरू किया। आज टाटा के इस्पात की इतनी अधिक मांग है कि जिसे वह पूरी नहीं कर सकता। यदि वर्षों पहले इस देश में लोहा निकालना शुरू हो गया होता तो फिर आज हम लोग अपनी मशीनों के लिए ब्रिटेन के मुहताज न होते। ब्रिटेन की फैक्टरियों के युद्ध सामग्री के निर्माण में लग जाने के कारण, यहां के उद्योगों पर माल की सप्लाई की मांग बढ़ गई है जिसे पूरा करने के लिए नए उद्योगों की स्थापना और पुराने उद्योगों के विस्तार की जरूरत है, मशीनों के अभाव में यह विस्तार रुका पड़ा है।

इस देश के उद्योगों में सरकार की रुचि दिलाने का जो काम यहां के देशभक्त नहीं कर सके, वही काम इस युद्ध ने पूरा कर दिया है। युद्ध छिड़ने पर, उद्योग आयोग की स्थापना की गई और शस्त्रों की आवश्यकता ने यहां के औद्योगिक संगठनों को इसके उत्पादन के लिए विवश कर दिया। अब इस बात पर नजर रखना भारतीय व्यापारियों का काम है, और यह काम वह राजनीतिक अस्त्र को हथिया कर और उसका प्रयोग करके कर सकते हैं, कि सरकार द्वारा प्रोत्साहित और संगठित इन उद्योगों के कारण भारतीयों की स्थिति कहीं पहले से अधिक परावलम्बी न बन जाए। यह वह खतरा है जिसकी आशंकाओं ने व्यापारी वर्ग में जागृति उत्पन्न की है। उदाहरण के लिए, चाय उद्योग, चाय बाग़ान के अंग्रेज मालिकों के हाथ में है, अभी से कुछ वर्ष पहले तक उनकी आमदनी पर किसी तरह का कोई कर नहीं लगाया गया था जबकि अन्य कृषि आय पर कर लगे हुए थे। अगर इसी तरह की नीति जारी रही और भारतीय धन से शुरू किए गए उद्योग विदेशियों के हाथ में जाते रहे तो फिर भारतीय अंग्रेजों की कम्पनी में क्लर्क और अन्य कर्मचारी के रूप में काम करने वाले बन कर रह जाएंगे। वह उनकी दी हुई मजदूरी पर जिएंगे, जो मजदूरी, व्यापार में बढ़ती हुई प्रतिद्वन्द्विता के कारण बराबर गिरती ही जाएगी।

भारतीय व्यापारियों ने अपनी आंखों से जापान का तेजी से बढ़ता हुआ व्यापार देखा है, उसे मालूम है कि यह व्यापार जापान की सरकार के संरक्षण और पोषण के कारण फैला है। आज उन्हें जापानी व्यापार का सामना स्वयं अपने देश में करना पड़ रहा है। ऐसी दशा में उनका, भारत की अपनी सरकार हो, ऐसी इच्छा करना क्या कोई आश्चर्य की बात है ? वह देख रहे हैं कि आज जापानी माल कम दामों पर खूब धड़ल्ले से बिक रहा है और उनसे बाजार के बाजार भरे पड़े हैं, ऐसे

में उनकी स्वशासन की कामना कोई ताज्जुब की बात नहीं है, जो इन विदेशी मालों पर भारी चुंगी लगाए और अपने यहां के उत्पादनों को संरक्षण दे।

महिलाओं में जागृति

प्राचीन आर्य सभ्यता में महिलाओं का श्रेष्ठ स्थान रहा है। अधिकांश महिलाएं विवाह करके, मनु की भाषा में, घरों का दीप बन कर चमकती थीं; कुछ अविवाहित रह कर संन्यास का जीवन व्यतीत करती थीं और ज्ञान प्राप्त करती थीं। रानी दमयन्ती, गान्धारी, चित्तौड़ की रानी पद्मावती, मीराबाई, चांदबीबी और अहिल्याबाई और इनके अतिरिक्त और न जाने कितनी महान स्त्रियों की कहानियां सर्वविदित हैं।

कोई पांच छः पीढ़ी पहले स्त्रियों ने अपना यह स्थान खो दिया और उनके जीवन साथी सार्वजनिक क्षेत्र में अकेले रह गए। आज भी स्त्रियों का अपने पति और बच्चों पर काफी प्रभाव है किन्तु उनके पास उस ज्ञान का अभाव है जिससे वह उनकी सहायक बन सकें। पति और बच्चों की अंग्रेजी शिक्षा, संस्कृत तथा मातृभाषा की उपेक्षा ने पति और पत्नी की संस्कृति के बीच एक खाई पैदा कर दी है और स्त्री उस स्थान से काफी दूर हट चुकी है जहां उसमें व्यापक जन-जीवन के प्रति सहानुभूति थी। पति की अभिरुचियों का क्षेत्र व्यापक हुआ है और स्त्रियों की रुचियों का क्षेत्र कम हो गया है। पति की भौतिकवादी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया पत्नी की धार्मिक आस्थाओं पर भी हुई। अब उसकी धार्मिक आस्थाएं संकुचित हो गईं; धर्म में अब उसका पथप्रदर्शन पति के स्थान पर कुलपुरोहित करने लगे, जिससे उनका धर्म, विवेक का नहीं, कोरी आस्था का विषय बन गया। ज्ञान के ठोस धरातल पर टिकी न होने के कारण यह आस्था आसानी से अन्धविश्वास में बदल गई, जिसमें बिना समझे बाह्य कर्मकाण्डों का पालन होता है।

अंग्रेजी शिक्षा के भौतिकवादी परिणामों से अपने बच्चों को बचाने की कामना ने हिन्दू धर्म के ज्ञान को शिक्षा का अभिन्न अंग बनाने के आन्दोलन के प्रति भारतीय महिलाओं में गहरी सहानुभूति उत्पन्न कर दी है।

नए युग में शुरू किया जाने वाला शायद, यह पहला आन्दोलन था जिसमें देश के प्रत्येक भाग की महिलाओं ने इतनी अधिक और सक्रिय रुचि दिखाई।

भारत से दूर भारतीयों के साथ की जाने वाली ज्यादतियों ने भारतीय महिलाओं की सहानुभूति को जगाया और दक्षिण अफ्रीका में भारतीय विवाह की

पवित्रता पर किए गए आक्रमण के विरोध में अपना रोष प्रकट करने के लिए स्त्रियां, बड़ी संख्या में, घरों से बाहर निकल पड़ीं।

बंगाल की महिलाओं ने बंगाल विभाजन का कड़ा विरोध किया। यह घटना महिलाओं में परिवर्तन का एक कारण बन गई। एक उग्रपंथी समाचारपत्र के सम्पादक को जब देशद्रोह के अभियोग में सजा सुनाई गई तो बंगाल की पांच सौ महिलाएं, सम्पादक की माता के पास सहानुभूति प्रकट करने गईं, यह सहानुभूति शोक प्रदर्शित करने के बजाय बधाई देकर प्रकट की गई थी। उस समय बंगाल की महिलाओं में इसी प्रकार की भावनाएं विद्यमान थीं।

ठेके के मज़दूरों के प्रश्न ने भी, जिसमें स्त्री जाति का अपमान भी होता था, महिलाओं की सहानुभूति प्राप्त की और महिलाओं का एक शिष्टमण्डल इस सम्बन्ध में वाइसराय से मिला भी था।

यह कुछ प्रमुख बाह्य कारण थे, किन्तु इससे गहरी स्वयं भारत माता की वह पुकार थी जिसने उसकी सुपुत्रियों को एक बार फिर अपने गृह की स्वामिनी बनने का आह्वान किया था। भारतीय महिलाएं, जिन्होंने नारीत्व के विस्मयकारी आदर्शों का प्रतिपादन करनेवाले प्राचीन साहित्य से प्रेरणा ली थी, भारत की स्वतन्त्रता के लिए चल रहे व्यापक आन्दोलन से अलग नहीं रह सकती थीं। उनके दिलों में एक मुद्दत से जल रही वह आग, जिसमें भारत माता का प्रेम, धर्म की अधोगति के प्रति रोष और अपनी भूमि पर विदेशी शासन के प्रति सहज घृणा का भाव छिपा हुआ था, सहसा भड़क उठी। महिलाओं के सामने आ जाने से होम रूल आन्दोलन ने दस गुनी तेजी पकड़ ली। होम रूल लीग की सबसे अच्छी कार्यकर्त्ता भारतीय महिलाएं हैं। मद्रास की स्त्रियां इस बात पर गर्व करती हैं कि जब पुरुषों को आगे बढ़ने से रोक दिया गया था तो वह लोग जुलूस बनाकर बढ़ी थीं और मन्दिरों में उनकी प्रार्थनाओं से ही गिरफ्तार आदमी छूट सके थे। होम रूल आन्दोलन छोटे-बड़े मन्दिरों में की गई प्रार्थनाओं के कारण धर्म के साथ बिलकुल घुल-मिल चुका था। फिर साधु-संन्यासियों द्वारा इसके प्रचार के कारण भारतीय महिलाओं के मन में होम रूल आन्दोलन धर्म का ही अंग बन गया। साधु-संन्यासियों द्वारा प्रचार हमारे देश की उच्च श्रेणी की महिलाओं तथा गांवों के स्त्री-पुरुषों को आकृष्ट करने का अच्छा साधन था। इसलिए मैंने कहा था कि होम रूल ये 'दो शब्द' भारत का मंत्र बन गये।

जनसाधारण में जागृति

जनसाधारण की जागृति हमारे युग की एक और अनोखी बात है, जिसका श्रेय साधु-संन्यासियों द्वारा प्रचारित शिक्षा और प्रार्थना के अभियानों को है, जिनका उल्लेख मैं अभी कर चुकी हूं, किन्तु इससे अधिक यह जागृति शिक्षित वर्ग के प्रभाव का परिणाम थी जिसकी तहें जनता पर जमती जा रही थीं। यहां यह बात याद रखने की है कि हमारे कृषक, जो अंग्रेज़ी शासन से अनभिज्ञ थे, उनकी अपनी एक संस्कृति रही है। रीति-रिवाजों, परम्पराओं, कथाओं और किंवदन्तियों पर आधारित उनकी यह संस्कृति चिरकाल से चली आ रही थी, वे धार्मिक मनोवृत्ति के हैं, जो कर्म के सिद्धान्त और अवतारवाद को समझते हैं, इसी के साथ, मेहनती भी हैं और अपने काम में कुशल भी। उन्हें इस बात की जरा कम ही परवाह रही है कि सरकार किस की है, वह कर वसूल करने या उनकी खेतीबारी में अनुचित हस्तक्षेप करने के लिए आने वाले सरकारी आदमी का अता-पता रखने की ओर भी कम ही ध्यान देते हैं। प्राचीन समय में, गांव के मामले पंचायत चलाया करती थी, यह आज भी प्रचलित है। आमतौर पर, वह खुशहाल और सन्तुष्ट रहते सिवाय इसके कि जब राजा के आदमी कर वसूल करने आ जाते या सिपाहियों का कोई दस्ता (दल) उनके गांव से गुजरता। वे इन्हें भी बाढ़ और सूखे की तरह का प्राकृतिक प्रकोप समझते, यदि कभी बाहर से भी कोई आक्रमण होता तो वह यही समझते कि वह अपने ही राजा के साथ सताए जा रहे हैं। किन्तु अब वे सब लोहे की एक विशाल मशीन में झोंक दिए गए हैं जहां वह मानवीय रिश्ता नहीं रह गया है जो पहले था।

कृषकों में होम रूल आन्दोलन अपने गांव के जीवन के माध्यम से पनपा है। जहां कहीं वर्तमान ढांचे की कठोरताओं का अनुभव हुआ लोग होम रूल आन्दोलन की तरफ आकृष्ट हुए। इन कठोरताओं का उल्लेख मैं आगे चलकर कृषि की स्थिति के साथ करूंगी। फसल में राजा का हिस्सा बहुत पहले से लगता चला आ रहा है, जो वह अनाज के रूप में देते रहे हैं, अब वह करों की नकद अदायगी पर रोष व्यक्त करते हैं। बार-बार पट्टे बदले जाने से वह तंग आ चुके हैं, जिसके कारण उन्हें भारी सूद पर महाजनों से ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वह पंचायत की पुराना व्यवस्था को फिर से बहाल करना चाहते हैं, वह चाहते हैं कि गांव की व्यवस्था स्वयं गांव के लोग मिल-जुलकर चलाएं, वह छोटे-छोटे अफसरों की नादिरशाही से तंग आ गए हैं: जिन्होंने समुदाय के पुराने और उपयोगी सेवकों का स्थान ले लिया है।

जनता को जागृत बनाने में जिन तत्वों ने काम किया है उनमें एक सरकारी आन्दोलन भी है, फिर, पढ़े-लिखे लोगों का गांवों में जाकर स्वास्थ्य, सफाई आदि अनेक विषयों पर व्याख्यान देने का भी प्रभाव कुछ कम नहीं हुआ है। देश के अनेक भागों में जहां सम्मेलन आदि की कार्रवाई स्थानीय भाषा के माध्यम से चलाई गई वहां कृषकों की उपस्थिति बड़ी संख्या में रहती और कभी वह स्थानीय मामलों पर हो रही चर्चा में हिस्सा लेते। इन बातों से उनके मन में आशाओं का संचार हो चला था, वह समझने लगे थे कि वे भी एक व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन का अंग हैं और यह कि जल्द ही अच्छे दिन आने वाले हैं।

शोषित वर्गों के मन में भी आशाओं की उमंग जाग उठी, उनके झुके हुए सर ऊंचे उठने लगे और वह भी देश के मामलों में अपने समुचित स्थान का दावा करने लगे। उनके बीच चलने वाले या ऊंची जातियों में उभरने वाले आन्दोलनों ने उनके अन्दर आत्मसम्मान की भावना जागृत कर दी। ब्राह्मणों में भी यह जागृति आ गई है और वे यह अनुभव करने लगे हैं कि उन्होंने अभी तक इन वर्गों के प्रति अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा की है और अब उन्होंने उनकी सहायता में बहुत-कुछ किया है, जिससे इन निचली जातियों का भविष्य भी वर्ष-प्रतिवर्ष उज्ज्वल होता जा रहा है।

यह उनके अच्छे कर्मों का फल है कि उच्च जाति के लोग यह देखते जा रहे हैं कि सरकारी और गैर-सरकारी यूरोपीय अधिकारी होम रूल आन्दोलन के विरोध में निचली जातियों को उभाड़ रहे हैं। इससे पूर्व निचली जातियों के साथ यहां जो सलूक किया गया है उसका सहारा लेकर और स्वराज्य को ब्राह्मण-राज कहकर यह लोग, यह प्रचार कर रहे हैं कि यदि 'ब्राह्मण राज' फिर से वापस आता है तो वह पहले से कहीं अधिक सताए जाएंगे। आज से लगभग बीस वर्ष से भी पहले मैंने हिन्दू समाज को संकट की यह चेतावनी देने का साहस किया था कि निचली जाति को उपेक्षित करना स्वयं उनके लिए बहुत बड़ा खतरा बन जाएगा। हिन्दू समाज की यह भूल निचली जातियों को इस्लाम या ईसाई धर्म ग्रहण करने के लिए प्रेरित करेगी जहां उनका सामाजिक स्तर ऊंचा होगा। उसके बाद से इस दिशा में बहुत-कुछ किया जा चुका है, मगर अभी यह समुद्र में एक बूंद से अधिक नहीं है। उन्हें यह मालूम है कि इस स्थिति के लिए अकेले उच्च जातियां ही नहीं, वरन् सभी जातियां समान रूप से जिम्मेदार रही हैं, आज उनमें से बहुत से लोग पिछली कटुताओं को भुलाकर अपने देशवासियों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर भविष्य के

लिए काम करने के लिए तैयार हैं। भारत माता से प्रेम करने वाले हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह भारत माता के इन उपेक्षित पुत्रों को घर के भीतर सम्मान की जगह दिलाएं।

भारत स्वशासन क्यों चाहता है ?

कांग्रेस और लीग की ओर से भव्य याचिका प्रस्तुत करने का गांधीजी का अनोखा विचार, जिस पर अच्छी तरह विचार करके ही हस्ताक्षर लिए जाएंगे, राजनीतिक प्रचार का बहुत अच्छा साधन सिद्ध हुआ है। मद्रास प्रेसीडेन्सी में लोकप्रिय साहित्य वितरण द्वारा उसके लिए उचित भूमि तैयार की गई है। वहां की प्रचार समिति ने सीधी-सादी स्थानीय भाषा में होम रूल के उद्देश्यों के सम्बन्ध में पुस्तिकाएं आदि वितरित कराई हैं। पिछले वर्ष गांवों में सभाएं आदि करके जो सक्रिय कदम उठाए गए हैं उनके परिणामस्वरूप एक महीने के अन्दर होम रूल के लिए दस लाख लोगों के हस्ताक्षर प्राप्त हो गए। यह हस्ताक्षर दो कागजों पर किए गए ताकि होम रूल आन्दोलन में रुचि रखने वाली विशाल जनसंख्या का अभिलेख हमारे पास भी रहे। स्वतन्त्रता के लिए रास्ता साफ करने वाले लोगों की यह संख्या आगे भी बराबर बढ़ती जाएगी।

भारत दो कारणों से होम रूल चाहता है, एक अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण है और दूसरा महत्त्वपूर्ण तो कम किन्तु वजनदार है : प्रथम, इसलिए कि स्वतंत्रता प्रत्येक राष्ट्र का जन्मसिद्ध अधिकार है, द्वितीय इसलिए कि, आज भारत के महत्त्वपूर्ण हित बिना उसकी इच्छा के, ब्रिटिश साम्राज्य के हितों के साथ जोड़ दिए गए हैं, और उसके साधनों को उसकी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विकसित नहीं किया जा रहा है। इसका अनुमान, यहां के धन का सैनिक तैयारी पर किए गए खर्च की तुलना शिक्षा के व्यय के साथ करके सहज रूप से, किया जा सकता है, विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जबकि यह सेना स्थानीय सुरक्षा के लिए नहीं, बल्कि साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रखी गई थी।

स्वशासन किसी भी राष्ट्र की प्रतिष्ठा और आत्मसम्मान के लिए आवश्यक है। पर-शासन राष्ट्र को कायर बनाकर उसके चरित्र को हीन और उसकी क्षमता को कुण्ठित कर देता है। अकेले आर्मी ऐक्ट ने ही भारतीय पुरुषार्थ पर कितना बड़ा धक्का लगाया है, जिसके विषय में राजा रामपाल सिंह ने द्वितीय कांग्रेस में कहा था ब्रिटिश शासन ने हिन्दुस्तान को जो कुछ भी दिया है उस पर, केवल यह एक ऐक्ट,

पानी फेर देता है। इसने भारतवासियों के नैतिक मनोबल को गिराया है और उनके अन्दर के शौर्य को कुण्ठित किया है—खुद उन्हीं के शब्दों में "हम उसके कृतज्ञ नहीं हो सकते, क्योंकि उसने हमारी प्रकृति; हमारे चरित्र को अपमानित किया है; दूसरे हमारे ठोस उत्साह को बड़े ढंग से कुचल दिया है, इसने शूर-वीरों की जाति को धीरे-धीरे कायर भेड़ों का झुण्ड बना दिया है।" और यह सब करने का कारण यह नहीं है कि कानून के अन्तर्गत कोई व्यक्ति अपने पास शस्त्र नहीं रख सकता—क्योंकि इंगलैण्ड में भी बहुत कम आदमी अपने साथ शस्त्र रखते हैं—बल्कि इसलिए कि लोगों को अपने साथ शस्त्र रखने के अधिकार से वंचित किया गया है। कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र स्वतंत्रता के बिना अपनी शक्ति और सामर्थ्य का पूर्ण-विकास नहीं कर सकता। भारत के सिवा, इस बात को हर जगह मान्यता दी जाती है। श्री मैज़नी ने ठीक ही कहा था कि "ईश्वर ने शुरू में ही हर राष्ट्र को अपनी इच्छा बता दी है और यही इच्छा उस राष्ट्र का विशेष लक्ष्य होती है—इसे नष्ट नहीं किया जा सकता; इसे स्वतंत्रतापूर्वक विकसित होना चाहिए।

आखिर यह राष्ट्र है क्या ? यह उसी 'दैवी ज्वाला' की एक चिंगारी है, उस 'दैवी जीवन' का एक अंश है जिसे श्वास द्वारा निकाल कर इस दुनिया में भेज दिया गया है और जो अपने चारों ओर व्यक्तियों—पुरुष, स्त्री और बच्चों का एक समूह जमा करके सबको एक में बांध देता है। उसकी शक्ति और गुण तथा विशेषता उसी में विद्यमान दैवी जीवन के अंश पर निर्भर करती है, वह जीवन जो उसे रंग-रूप देता है, आकार-प्रकार देता है और उसे 'एक' बना देता है। राष्ट्रीयता का उपयोग है अपनी विशेषता के अनुसार दुनिया की सेवा करना। यही वह बात है जिसे श्री मैज़नी 'उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य' कहते हैं, अर्थात् यह वह कर्तव्य है, जो ईश्वर ने जन्म से ही उसके जिम्मे लगा दिए हैं। अतः यह भारत का कर्तव्य है कि वह संसार में धर्म के विचार का प्रचार करे। इसी प्रकार ईरान पवित्रता का, मिस्र विज्ञान का, यूनान सौन्दर्य का और रोम कानून का प्रचार करे। लेकिन मानवता की पूरी-पूरी सेवा करने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी ही दिशा में विकसित हो और अपने विकास में अपने ही नियमों पर निर्भर रहे। उसे अपना 'स्वयं' होना चाहिए, न कि, 'दूसरा'। उसका विश्व लक्ष्य पूरा होने से पहले ही जब किसी भी राष्ट्रीयता को विकृत कर दिया जाता है या उसका दमन किया जाता है, तभी पूरी दुनिया को उसका बुरा परिणाम भुगतना पड़ता है।

इसलिए किसी राष्ट्र की स्वतंत्रता और स्वशासन की मांग स्वार्थपूर्ण नहीं है, जो अपने सुख के लिए अधिक अधिकार प्राप्त करने के लिए की जाती है। यदि इसका इतना ही उद्देश्य हो तो भी इसमें कोई हर्ज नहीं है, क्योंकि सुख का अर्थ है जीवन की पूर्णता; और इस पूर्णता को भोगना एक पवित्र अधिकार है। लेकिन स्वशासन की मांग मानवता की सेवा के लिए स्वयं अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव के विकास के लिए मांग करना है।

यह गहरी आध्यात्मिकता की मांग है। यह मांग संसार को उत्कृष्ट योगदान देने की कामना से ओतप्रोत है। अतः यह मांग न तो किसी खतरे के डर से, और न जोर जबर्दस्ती के भय से दब सकती है, और न किसी तरह के प्रलोभन देकर स्वतंत्रता की मांग भुलायी जा सकती है। गुलामी के ऐशोआराम से स्वतंत्रता की कठोरताएं अच्छी हैं। यही होम रूल आन्दोलन की भावना है, इसलिए इसे दबाया नहीं जा सकता और न कुचला ही जा सकता है। यह सदाबहार आन्दोलन है; और नौकरशाही द्वारा दिए गए किसी प्रलोभन से इसे अपने जन्मसिद्ध अधिकार को किसी और चीज़ से बदलने के लिए फुसलाया भी नहीं जा सकता है।

एक-एक व्यक्ति के जीवन को निकट से देखकर महसूस किया जा सकता है कि हर स्त्री, पुरुष, और बच्चे के चरित्र को विदेशी शासन ने किस तरह निर्बल और हीन बना दिया है। भारत के जागरूक व्यक्ति इस बात को भलीभांति महसूस करते हैं।

यह अवरोध बच्चों की शिक्षा से ही शुरू हो जाता है। स्कूलों में अंग्रेज़ और भारतीय शिक्षकों में भेद बरता जाता है। कॉलिजों में भी यही होता है। शिक्षार्थी देखते हैं, कि प्रतिभावान और प्रथम श्रेणी के भारतीयों को दबा कर तीसरी श्रेणी के नौसिखिए विदेशियों को तरक्की दी जाती है, कॉलिज के प्रिंसिपल के लिए विदेशी होना जरूरी है; इतिहास की शिक्षा में भी, भारतीय इतिहास की तुलना में विदेशी इतिहास को अधिक महत्त्व देना, भारत का अर्थशास्त्र पढ़ाने वाले शिक्षक के लिए इंगलैण्ड के किसी गांव पर कुछ लिखने को विशेष योग्यता ठहराना आदि कुछ बातें और स्कूल तथा कॉलिज का पूरा वातावरण विदेशियों की श्रेष्ठता प्रदर्शित करती हैं। शिक्षा विभाग शिक्षा पर नियंत्रण रखता है, उसने विदेशी नमूने पर ऐसी योजना बनाई है, इसका उद्देश्य, देश की नहीं, विदेश की सेवा करना है, देश भक्त नागरिकों

के बजाय सरकार के लिए दब्बू नौकर तैयार करना है, यहां छात्रों में साहस, मनोबल और आत्मसम्मान पैदा करने को प्रोत्साहित नहीं किया जाता बल्कि छात्रों में आज्ञा-पालन का गुण उत्पन्न करने को अधिक महत्व दिया जाता है; अपने देश के प्रति गर्व की अनुभूति और देश-भक्ति तथा महत्त्वाकांक्षाओं के गुणों को खतरनाक समझ कर उनमें भारतीय आदर्शों के बजाए अंग्रेज़ी आदर्शों का संचार किया जाता है; उनके सामने लगातार यह बात लाई जाती है कि भारतीय अपने मामलों का संचालन करने के सर्वथा अयोग्य हैं और यह कि विदेशी शासन उनके लिए वरदान है। इस प्रकार की शिक्षा पाए हुए लड़कों का बड़े होकर अवसरवादी, खुशामदी बन जाना, तथा अपनी आकांक्षाओं को पूरा होते न देख कर, इनका सार्वजनिक हित की उपेक्षा करके स्वार्थी बन जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जीवन की सर्वाधिक ग्रहणशील अवस्था में ही उनके दिलों में अपनी हीनता की भावना इतनी बुरी तरह जमा दी जाती है कि वे श्री एस्किवथ के शब्दों में, 'विदेशी दासता के असह्य अपमान' को भी महसूस नहीं कर पाते हैं।

सवाल इसका नहीं है कि शासन अच्छा है या खराब। जर्मनी में जर्मनवालों की कार्यकुशलता, इंगलैण्ड में अंग्रेज़ों की कार्यकुशलता से कहीं अधिक है, जर्मनी वालों को अधिक अच्छा भोजन मिलता था, उन्हें मनोरंजन और अवकाश की अधिक सुविधाएं प्राप्त थीं, अंग्रेज़ों की अपेक्षा वहां गरीबी भी कम रही है। क्या इसी से अंग्रेज़ चाहेंगे कि इंगलैण्ड में ऊंचे-ऊंचे पदों पर जर्मनों का कब्ज़ा हो जाए। नहीं, तो क्यों नहीं? इसलिए कि यह एक स्वतंत्र राष्ट्र की प्रतिष्ठा और आत्मसम्मान के विरुद्ध है कि कोई दूसरा राष्ट्र, वह कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, उस पर शासन करे। जैसा कि श्री ऐसक्विथ ने युद्ध के आरम्भ में कहा था, ऐसी स्थिति "अकल्पनीय और असह्य" है। किन्तु यही व्यवस्था भारत में क्यों सहनीय है? सभी भारतीयों को यह स्थिति क्यों असह्य नहीं लगती? क्योंकि, 'साहब लोगों' को अपने से, प्राकृतिक रूप से, श्रेष्ठ समझने की आदत हम में बचपन ही से पड़ गई है और ब्रिटिश शासन ने भारतीयों को जो सबसे कड़ी चोट पहुंचाई है, वह यही कि उन्होंने इन लोगों को आत्मनिर्णय की इनकी सहज प्रवृत्ति से वंचित कर दिया है, जो स्वतंत्र लोगों में पैदायशी या जन्मजात होती है। भारतीय वेश-भूषा, भारतीय भोजन, भारतीय रीतिनीति सब घटिया समझे जाते हैं। भारतीय भाषाओं और भारतीय साहित्य से कोई आदमी शिक्षित नहीं बन सकता है। भारतीयों और अंग्रेज़ों ने यह बात मान रखी है कि हर राष्ट्र को अपने यहां के

शासन की बागडोर खुद सम्भालने का प्राकृतिक अधिकार भारतीयों के लिए नहीं है, स्वयं अपने देश के शासन का दावा करने की बजाय वे केवल इस शासन में एक बड़े हिस्से का दावा करते हैं और इनसे आशा की जाती है कि इन्हें जो थोड़ी बहुत रियायतें और 'वरदान' मिल जाएं, उनके लिए वे कृतज्ञता प्रकट करें। और क्या दिया जाए इसका फैसला ब्रिटेन को ही करना है। यह सारी स्थिति अतर्कसंगत और वि [illegible] है। ईश्वर की कृपा से अब भारतवासियों की आंखें खुल रही हैं, अब उसके हजारों, लाखों आदमी यह महसूस करने लगे हैं कि वे मानव हैं और उन्हें अपने देश में स्वतंत्र होने का तथा अपने मामलों का आप संचालन करने का मानवीय अधिकार प्राप्त है। आज हिन्दुस्तान घुटने टेक कर वरदान नहीं मांग रहा है, आज वह अपने अधिकार के लिए अपने पैरों पर खड़ा है। चूंकि मैंने यही सब सिखाया है इसलिए भारत में रहने वाले अंग्रेज मुझे गलत समझते हैं, वह राजद्रोही कहते हैं; और चूंकि मैंने यह सब सिखाया है इसीलिए आज मैं इस कांग्रेस की अध्यक्ष हूं।

मेरी यह बातें कुछ कटु अवश्य लग सकती हैं, क्योंकि आमतौर से भारतवासियों के सामने सीधी सच्ची बात नहीं रखी जाती है। किन्तु यह वह भावना है जो हर अंग्रेज ब्रिटेन में अपने देश के प्रति महसूस करता है, और इसे प्रत्येक भारतीय को भारत के बारे में महसूस करना चाहिए। इसी का नाम आजादी है जिसके लिए मित्र-राष्ट्र लड़ रहे हैं, यही लोकतंत्र है जो आज का युग धर्म है। यह हर सच्चा ब्रिटिश नागरिक महसूस करेगा कि भारत जो कुछ मांग रहा है वह उसका अधिकार है। जब उन्हें यह अधिकार मिल जाएगा तब भारत और ब्रिटेन के बीच का सम्बन्ध परस्पर प्रेम और सेवा का सुनहला सम्बन्ध हो जाएगा और विदेशी दासता की लोहे की जंजीर टूट जाएगी। और हम एक-दूसरे से कन्धे-से-कन्धा मिलाकर भाई-भाई की तरह समान लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए काम करेंगे जिसमें एक-दूसरे के प्रति घृणा और अविश्वास का नामोनिशान न होगा। इस मिलन से एक ऐसा शक्तिशाली साम्राज्य या राष्ट्र-मण्डल पैदा होगा जिसकी, दुनिया में, आजतक कोई मिसाल नहीं है; और भगवान ने चाहा तो इस राष्ट्रमण्डल से युद्ध का अन्त हो जाएगा।

भारत के सार्वजनिक जीवन का अध्ययन करने वाले अनेक पर्यवेक्षकों ने हमारे राजनीतिक संगठनों की विघटनकारी प्रवृत्तियों की ओर ध्यान दिलाया है और प्रतिक्रियावादी इसका हवाला दे कर हमें संवैधानिक स्वतंत्रता देने से वंचित रखना चाहते हैं। किन्तु, यदि इस पर ठीक ढंग से विचार किया जाए तो इस कारण से आजादी देना और

भी जरूरी हो जाता है। कुछ लोगों को मेरी इस बात में विरोधाभास लगेगा। किन्तु वास्तविक स्थिति क्या है ? इसे भी तो देखिए।

हमारे सामने एक राष्ट्र है जो स्वाधीनता लेने की कोशिश कर रहा है, उसमें बहुत से सम्प्रदाय हैं तथा बहुत से मत प्रचलित हैं। इसके अलावा, हमारे ऊपर एक सरकार स्थापित है जिसे समस्त शक्ति और संरक्षण देने के अधिकार प्राप्त हैं, और अपने सरकारी हुक्मनाम निकालकर वह ऐसे किसी को कुचल भी सकती है जिसे वह अत्यधिक परिवर्तन करने का समर्थक समझती है। इसकी प्रवृत्ति ऐसे दल या समुदाय को प्रश्रय देने की होती है जो सरकार की शक्ति को कम करने वाले कानूनों को कुचलने में उसके सहायक बनें। ऐसी स्थिति में विघटनकारी लक्षणों पर उसकी निगाह होना स्वाभाविक है, जिससे वह दुर्बल पक्ष के साथ सांठ-गांठ करके शक्तिशाली पक्ष को दबाए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 'भारत की विजय' के सिलसिले में यही कुछ किया था। यदि कोई विघटनकारी लक्षण न दिखाई देते हों तो उन्हें पैदा किया जा सकता है, उसी तरह जैसे इच्छित युद्ध के सम्बन्ध में भारत के वायसराय लार्ड लिटन को एक पत्र में लिखा गया था कि "यदि कोई बहाना न हो तो तुम्हें एक ईजाद करना चाहिए।" यह नीति उस समय अपनाई गई जबकि दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश संसद में भेजे गए थे; उनके मुकाबले में श्री भावनगरी को खड़ा किया गया और एक शक्तिशाली सुधारक के मुकाबले में एक प्रतिक्रियावादी को जिताने में सफलता मिल गई। इससे अस्वस्थ कोई राजनीतिक स्थिति नहीं हो सकती।

सबसे पहले हिन्दू और मुसलमानों के दो बड़े सम्प्रदायों को लीजिए। इस राष्ट्र के अन्दर यह दो स्वाभाविक दल हैं, इनके ऊपर ईसाई सरकार एक तीसरे दल के रूप में है जिसका समर्थन प्राप्त करने के लिए इन दोनों में भेद-भाव, बलवेफसाद का बाजार गर्म है। गत वर्ष लखनऊ और कलकत्ता में बहुत सोच-विचार के बाद किए गए सद्भावना समझौतों को तोड़ने का निरन्तर प्रयास हो रहा है। यह बात यहां की देशी रियासतों में नहीं मिलती जहां हिन्दुओं और मुसलमानों के ऊपर दोनों में से किसी एक समुदाय के शासक राज करते हैं।

प्रत्येक समुदाय में ऐसे बहुत से लोग हमेशा हर जगह मिल जाएंगे जो संगठित राजनीतिक दलों द्वारा किए गए किसी भी समझौते से अपने-आप को बाध्य न समझते हों, चाहे वह इनमें से प्रत्येक समुदाय के लिए कितना ही हितकारी क्यों न हो। फिर अधिकारियों द्वारा गैर सरकारी तौर पर दी गई रिश्वत और भय से प्रभावित होकर

किए जाने वाले इस विरोध और असंगठित तथा अनुत्तरदायी जनसमूह द्वारा अपने संकुचित उद्देश्यों के लिए मिलने वाली रियायतों की उम्मीद में सरकार को समर्थन मिल जाता है।

मद्रास प्रेसीडेन्सी में ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन, जिसे कुछ सौ आदमियों और तीन समाचारपत्रों का समर्थन प्राप्त है, वह भी कुछ इसी ढंग का है। ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन का उद्देश्य मुख्य रूप से प्रशासन में ऊंचे पद प्राप्त करना है और उसे आशा है कि सरकार की प्रशंसा और होमरूल का विरोध करके उसे यह (पद) आसानी से प्राप्त हो जाएंगे।

इसी तरह अन्य प्रान्तों में भी तरह-तरह के आन्दोलन चल रहे हैं और होम रूल आन्दोलन के कुत्ते को पीटने के लिए जो लाठी मिल जाए वही ठीक है।

लेकिन इस प्रकार के विभाजनों से परेशान होने की जरूरत नहीं है, क्योंकि जब तक भारत में अनुत्तरदायी शासन बना हुआ है, तब तक किसी-न-किसी रूप में ये विभाजन बने ही रहेंगे।

जब इस तीसरे अराष्ट्रीय दल का हमारे ऊपर शासन नहीं रह जाएगा तो हमारे राष्ट्रीय दल स्वस्थ राजनीति के घटक बन जाएंगे जिनके मत-भेद सैद्धान्तिक होंगे, अधिकारों के उपयोग से लोगों में उत्तरदायित्व की भावना पैदा होगी और इससे काफी हद तक अनुशासन पैदा होगा।

हम आज इन संक्रान्तिकालीन कठिनाइयों और झगड़े-फसाद को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर महत्व देते हैं। जब हम होम रूल प्राप्त कर लेंगे तो फिर ये अपनी वास्तविक हैसियत में आ जाएंगे।

मैं छोटे-मोटे सुधारों पर नहीं बोलना चाहूंगी, जिनकी कांग्रेस शुरू से अब तक मांग करती आई है। कांग्रेस के अधिकांश सदस्य अब इन मांगों को बार-बार दुहराने से उकता चुके हैं और यह महसूस करते हैं कि अब स्वशासन की प्राप्ति पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए, क्योंकि एक बार जब जनता के पास शक्ति आ जाएगी तो वह दूषित कानूनों से छुट्टी पाकर अपने लिए अच्छे कायदे-कानून बना सकेगी।

भारतीय विधान मण्डल परिवर्तित स्थिति के अनुकूल कांग्रेस के इन प्रस्तावों के अनुसार कानून बना लेंगे। स्वतन्त्र भारत कार्यपालिका को न्यायपालिका से पृथक कर देगा, और मालगुजारी की वसूली, न्याय और पुलिस के लिए पृथक-पृथक अधिकार

नियुक्त करके नीचे की अदालतों को प्रशासन के अधीन न रखकर उच्च न्यायालय के अन्तर्गत कर देगा । वह शिक्षा के लिए कानून बनाएगा, जूरी द्वारा मुकदमों की सुनवाई होगी, और विदेशों में बसने वाले भारतीयों के हितों की रक्षा करेगा, बराबरी के सिद्धान्त पर भूमि का बटवारा करेगा, भारतीय उद्योगों का संगठन और विस्तार करेगा, प्रशासनिक सेवाओं की भारत में ही परीक्षाएं लेगा, जातीय भेद-भावों को दूर करने के उद्देश्य से प्रशासन का पुनर्गठन करेगा, और सैनिक कॉलिजों की स्थापना करके युवकों को शाही कमीशन के लिए तैयार करेगा ।

वैधानिक आन्दोलनों के खिलाफ बनाए गए तमाम ऐसे विशेष कायदे-कानून (जैसा उन्हें ग्रेट ब्रिटेन में समझा जाता है) खत्म कर दिए जाएंगे, जिनके अन्तर्गत ऐसे भाषणों और लेखों के लिए भी दण्डित किया जाता है जो न तो किसी अपराध के लिए लोगों को भड़काते हैं और न मानहानि के कानून की अवहेलना करते हैं । यह विधि-विधान सभ्य जीवन के लिए कलंक है । कार्यपालिका को आज जो यह अधिकार प्राप्त है कि खुफिया पुलिस द्वारा व्यक्त शंकाओं या मजिस्ट्रेटों की गुप्त रिपोर्टों के आधार पर जिसको चाहा जेल में ठूंस दिया, देश निकाला दे दिया या नजरबन्द कर दिया – स्वतन्त्र भारत में उसका यह अधिकार छीन लिया जाएगा । इसी प्रकार कोई व्यक्ति, उसका अपराध सिद्ध हुए बिना, किसी प्रकार के दण्ड का भोगी नहीं बनेगा और न बिना खुला मुकदमा चलाए और अपने बचाव का पूरा मौका मिले किसी नागरिक को अपनी स्वतन्त्रता से वंचित किया जाएगा । शान्तिपूर्ण राजनीतिक प्रचार, जुलूस, सभाएं और झण्डे फहराने में किसी मजिस्ट्रेट या पुलिस अधिकारी द्वारा हस्तक्षेप नहीं होगा । कहने का अभिप्राय यह है कि भारत एक बार फिर उन सामान्य एवं मूलभूत मानव अधिकारों को प्राप्त करेगा जो विश्वविख्यात मैगना कार्टा और 'बिल आफ राइट्स' (अधिकार घोषणा पत्र) द्वारा प्राप्त किए गए थे ।

जरा एक स्वतन्त्र देश का स्वतन्त्र नागरिक होने की खुशी तो महसूस कीजिए जिसमें हम अन्य सभ्य लोगों के समकक्ष होंगे और एक ऐसे भारत में श्वास ले रहे होंगे जिसमें दमन का विषैला वातावरण खत्म किया जा चुका होगा; जहां एक व्यक्ति के अधिकारों और उसकी सम्पत्ति पर अदालती निर्णय के अतिरिक्त कोई हाथ नहीं लगा सकता; जहां कोई आदमी बिना जाने-बूझे अपराधी नहीं बनाया जाएगा और न जहां किसी व्यक्ति के मूलभूत अधिकार, अफसरों के मनमाने फैसलों पर निर्भर करेंगे । इस प्रकार की सुरक्षा हमें केवल होम रूल से मिल सकती है ।

साथियो, मैंने आपका बहुत समय लिया इसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। किन्तु मैं अपने जीवन में केवल एक ही बार कांग्रेस के इस आसन को ग्रहण कर सकती हूं और हमारे और आपके इस प्रिय देश के बारे में आप लोगों के सामने अपना दिल खोलकर रख सकती हूं। यह कोई नहीं कह सकता कि युद्ध और संघर्ष के इस वर्तमान वातावरण में आप लोगों के बीच दुबारा बोलने और आपकी मार्गदर्शक बनकर आपके साथ काम करने के लिए मैं अपने पद के इस कार्यकाल के वर्ष में स्वतन्त्र भी रहूंगी या नहीं। यदि मुझे काम करने का अवसर दिया जाता है तो मैं इस वर्ष आप लोगों के सहयोग की लालायित रहूंगी। आप लोगों ने मुझे अध्यक्ष चुनकर मुझ पर बहुत विश्वास दिखाया है और जब तक आप मेरे काम की तरफ से निराश न हो जाएं, तब तक मेरे साथ मिलकर काम करने का विश्वास भी दिलाएं। आप हर बात में मुझसे हमेशा सहमत नहीं हो सकते और न मैं आपकी आलोचनाओं का बुरा ही मानूंगी। लेकिन आपसे इतना अवश्य चाहूंगी कि मेरे शत्रुओं की ओर से मेरे विरुद्ध प्रचारित बातों पर एकदम विश्वास न कर लें, क्योंकि उनमें से हर बात का जवाब देने के लिए मेरे पास समय नहीं होगा। मैं यह वायदा तो नहीं करती कि हर समय आपको मेरी बातें और मेरे काम पसन्द आएंगे, किन्तु मैं यह वायदा अवश्य करती हूं कि मैं राष्ट्र की सेवा करने में कोई कसर नहीं उठा रखूंगी। मैं यह वायदा भी नहीं करती कि मैं हर समय और आपकी हर सलाह मान ही लूंगी और उसी के अनुसार कार्य करूंगी; नेता का वास्तविक काम मार्गदर्शन करना होता है, उसे अपने साथियों से विचार-विमर्श तो बराबर करते रहना चाहिए लेकिन जनता के सामने असली जिम्मेदारी उसी की होनी चाहिए और इसीलिए उसी का निर्णय अन्तिम तथा सर्वमान्य भी होना चाहिए। फौज के जनरल को अपने नीचे के अधिकारियों और सिपाहियों की अपेक्षा दूर तक देखना और उसके अनुसार निर्णय करना चाहिए और जब लड़ाई चल रही हो तो उस समय वह हर मोर्चेबन्दी के बारे में अपने निर्णयों की सफाई नहीं दे सकता। उसके निर्णयों का औचित्य-अनौचित्य तो युद्ध के परिणामों के आधार पर ही तय किया जा सकता है। मैंने यहां जन्म होने के कारण नहीं बल्कि प्रेम और सेवाभाव से इस देश को जाना है और अब तक मैंने कोई अधिकार या नेतृत्व ग्रहण न करते हुए भी यहां की चल रही लड़ाई में आगे-आगे रही हूं, और यथाशक्ति इसकी सेवा की है। अब आप लोगों द्वारा चुने जाने के बाद उस आसन को ग्रहण कर रही हूं जिसके योग्य सिद्ध होने की कोशिश

करूंगी। अपने बारे में मुझे सिर्फ इतना ही कहना है। हम सबको भारत माता की चिन्ता करनी चाहिए।

अब हमें देखना यह है कि भारत स्वतंत्र हो, अन्य राष्ट्रों के बीच अपना मस्तक गर्व से ऊंचा किए हो और इसके सपूतों का हर जगह सम्मान किया जाता हो, उसकी नई स्थिति उसके उज्ज्वल अतीत से मेल खाए और उससे अधिक उज्ज्वल हमारा भविष्य हो—क्या यही सब वह काम नहीं है जो हमें करना है, जिसके लिए हमें कठिनाइयां झेलनी हैं, जीना और मरना है। क्या संसार में कोई और भी ऐसी भूमि है जो अपनी आध्यात्मिकता के प्रति इतनी जिज्ञासा, अपने साहित्य के प्रति इतना प्रेम और अपनी वीरता के प्रति इतना सम्मान जगाती हो, जिसकी कोख से निकली हुई जातियां आज यूरोप और अमेरिका में पहुंचकर संसार की अगुवा बन गई हों ? और फिर क्या कोई और देश है जिसने इतने कष्ट झेले हों, कुरुक्षेत्र के मैदान में इसकी तलवार टूट जाने के बाद से यूरोप और एशिया वालों ने इसे रौंदना शुरू कर दिया, इसके शहरों को बर्बाद करने और राजाओं के सिर से मुकुट छीनने का एक सिलसिला बन गया। वे यहां विजय प्राप्त करने आए और यहीं के हो गए। अन्ततोगत्वा उस दैवी विश्वकर्मा ने उनको एक ऐसे राष्ट्र के रूप में ढाल दिया जिसमें केवल उसके अपने गुणों का ही समावेश नहीं हुआ था बल्कि वे गुण भी विद्यमान थे जो उसके दुश्मन अपने साथ यहां लाए थे। धीरे-धीरे उसके भीतर से उन बुराइयों का विष भी दूर होता गया जो उसके शत्रु अपने साथ लाए थे।

भारत, जिसने लाखों वर्ष के अपने इतिहास में प्राचीन काल की शक्तिशाली सभ्यताओं को उभरते और गिरते देखा, किन्तु वह उनके साथ मिटा नहीं बल्कि अपनी आंखों के सामने उन सभ्यताओं को धराशायी होते देखा और अच्छे बुरे हर तरह के दिनों को झेलते हुए उसने अपना अस्तित्व बराबर बनाए रखा; भारत, जिसे राष्ट्रों के बीच अनेक बार बलि पर चढ़ाया जा चुका है, अब पुनर्जन्म प्राप्त कर चुका है और नवजीवन की इस सदाबहार और भव्य वेला में, वह दिन दूर नहीं जब भारत गर्व के साथ सिर ऊंचा किए हुए, स्वतंत्र एवं सशक्त बनकर एशिया के लिए अलौकिक प्रकाश की किरण और विश्व के लिए वरदान बनकर चमकेगा।

• • •